विश्लेषण

(साहित्यिक निबंध संग्रह)

लेखक :

श्री इलाचंद्र जोशी

भागलपुर-२-(बिहार)

प्रकाशक :

शारदा प्रकाशन, भागलपुर-२.

मुद्रक :

शारदा प्रेस, भागलपुर-२.

आवरण चित्रकार :

चित्रशाला, भागलपुर.

आवरण मुद्रक :

शारदा प्रेस, भागलपुर

प्रथम संस्करण :

सन् १९५४ ई०

उपेक्षिता ऊर्मिला

पचास वर्ष से अधिक हुए रवीन्द्रनाथ ने एक छोटा सा निबंध लिखा था, जिसका शीर्षक था—'काव्येर उपेक्षित'। प्राचीन काव्यों में जो पात्र-पात्रियां अपने सतेज व्यक्तित्व की क्षणिक बिजली झलकाने के बाद कवि की विस्मृति के अंधकार में विलीन हो गईं उनकी ओर से उक्त निबंध में वकालत की गयी थी। उन उपेक्षिताओं में रामायण की ऊर्मिला को कवि ने प्रमुख स्थान दिया था। रवीन्द्रनाथ का कहना था कि सीता के हर्ष और विषाद ने रामायणकार को इस कदर छा लिया था कि दूसरे स्त्री-चरित्रों के प्रति वह एकदम उदासीन रहा। पुरुष-पात्रों में राम और लक्ष्मण दोनों को अपने-अपने क्षेत्रों में रामायणकार ने महत्व दिया। दोनों के चरित्र का निरूपण अंत तक, विस्तार के साथ किया गया है। पर स्त्री-पात्रों में जहाँ राम-दयिता सीता के चारित्रिक प्रस्फुटन में महाकवि ने अपूर्व चमत्कार दिखाया है वहां रामानुज (लक्ष्मण)–दयिता ऊर्मिला की एकदम उपेक्षा की गई है। प्राचीन युग के एक कवि का यह पक्षपात आधुनिक युग के मर्मी कवि रवीन्द्रनाथ को बहुत अखरा। ऊर्मिला की उपेक्षा रवीन्द्रनाथ को इसलिये भी खटकी कि उन्हें यह नाम बहुत ही सुन्दर और काव्योचित लगा है। किसी भी प्राचीन काव्य में ऊर्मिला के समान कमनीय, कोमल, सजल और तरल नाम दूसरा नहीं पाया जाता।

रवीन्द्रनाथ की इस सूझ से हिन्दी के वयोवृद्ध और आदरणीय कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने लाभ उठाया। अपने सुप्रसिद्ध काव्य 'साकेत' में उन्होंने ऊर्मिला को जो स्थान दिया है, वह सीता से किसी भी अंश में कम नहीं, बल्कि कुछ अंशों में अधिक महत्वपूर्ण है।

रामायणकार ने इस संबंध में तनिक भी सूचना देना आवश्यक नहीं समझा कि राम के साथ वन जाने के पूर्व लक्ष्मण ने ऊर्मिला को क्या कह कर सांत्वना दी। रामायणकार की इस उपेक्षा से यह विश्वास करने

की इच्छा होती है कि लक्ष्मण जैसे विवाह होने के समय से लेकर वन-गमनकाल तक ऊर्मिला के साथ असिधार व्रत का पालन करते रहे। उनकी इस तापसी मनोवृत्ति का कोई कारण समझ में नहीं आता। केवल राम के प्रति ही उनकी अनुरक्ति पायी जाती है और माता, पिता, स्त्री तथा परिवार के दूसरे स्वजन-सुहृदों के प्रति वह जैसे केवल शिष्टाचार का ही नियम पालन करते रहे। पर यह कैसे संभव हो सकता था कि उनके समान तेजस्वी व्यक्ति के प्रति उनके स्वजन-सुहृद भी उसी प्रकार उदासीन रहते? विशेष करके हिन्दू कुल मे उत्पन्न, पातिव्रत धर्म के शिक्षा-संस्कारो के बीच पली हुई उनकी अर्द्धांगिनी ऊर्मिला 'तद्गतेन मनसा' होने के सिवा दूसरी बात सोच ही नहीं सकती थी।

'साकेत' की ऊर्मिला के चरित्र के अध्ययन से हमें जो अनुभव होने लगता है वह इस प्रकार है—एक ओर जन्मगत संस्कार तथा सामाजिक शिक्षा द्वारा उसके मन में स्वभावतः यह धारणा बद्धमूल हो गयी थी कि पति का रुख चाहे कैसा ही निर्मम और निपट उपेक्षापूर्ण क्यों न हो उसे उन्हीं की अतर्भावना के साथ अपनी अंतर्प्रवृत्तियों के तारो का स्वर मिलाना होगा। दूसरी ओर उसके भीतर जो हाड़-मास की मानवी थी वह स्वभावतः बीच-बीच में इस कल्पना से खिन्न हो उठती होगी कि आजीवन पति की उपेक्षा का भार सहज प्रसन्नता से, शान्त भाव से, बिना तनिक भी शिकायत के सहते चले जाने का जो कर्त्तव्य विधाता ने उस पर थोप दिया है वह अधिक सहन योग्य नही है। और जब सहसा चौदह वर्ष के लिए वन-गमन का परवाना आ गया तब स्वभावतः उसका अतर्द्वन्द्व—जो अब तक अत्यन्त अव्यक्त अस्पष्ट और अज्ञात रूप में उसके मन के बहुत भीतर वर्त्तमान था—वह अत्यन्त स्पष्ट, तीव्र और सचेत हो उठा। लक्ष्मण के वनगमन के बाद वह पहली बार यह अनुभव करती है कि :

रहे न हममें राम हमारे, मिली न हमको माया!

यह मर्मघाती अनुभूति उसके मन में बरबस जीवन के प्रारंभिक काल की स्मृतियां जगाती है; उसके बाह्य और अन्तर्जीवन का अलबम खोलकर

एक-एक करके प्रत्येक चित्र पर ऐकातिक रूप से विचार करने की प्रेरणा देती है।

जीवन के पहले प्रभात में, आख खुली जब मेरी,
हरी भूमि के पात-पात मे, मैंने हृद्गति हेरी।
खींच रही थी दृष्टि सृष्टि, यह स्वर्ण-रश्मिया लेकर,
पाल रही ब्रह्माण्ड प्रकृति थी, सदय हृदय मे सेकर।
तृण-तृण को नभ सींच रहा था, बूँद-बूँद रस देकर,
बढ़ा रहा था सुख की नौका, समय समीरण खेकर।
बजा रहे थे द्विज दल बल मे, शुभ भावो की भेरी,
जीवन के पहले प्रभात मे, आख खुली जब मेरी।

कहा गया जीवन का वह सदय, सहृदय, सजीवन, रसमय, कमनीय, कान्त, स्वर्ण-रश्मिमय प्रभात? जीवन मध्याह्न जाते न जाते हृदय की समस्त कलित, कोमल, सजल, सरस भावनाए एकदम झुलस गई, न वह सुखद वेदना की अनुभूति शेष रही न मधुर वेदनामय सुख की :

यह जीवन मध्याह्न सखी, अब शाति-क्राति जो लाया,
खेद और प्रस्वेदपूर्ण यह, तीव्र ताप है छाया।
पाया था सो खोया हमने, क्या खोकर क्या पाया?
रहे न हममे राम हमारे, मिली न हमको माया।
यह विषाद! वह हर्ष कहा अब देता था जो फेरी,
जीवन के पहले प्रभात में, आख खुली जब मेरी।

मध्याह्न और अपराह्न समाप्त होने पर चौदह वर्ष बाद जो जीवन-संध्या आएगी वह क्या पिछले जीवन की सारी व्यर्थता की क्षति की पूर्ण पूरक सिद्ध हो सकेगी? तब क्या प्राणों की रक्तधारा का वह जीवन-वेग वर्त्तमान रहेगा? कौन जाने!

आगे जीवन की सध्या है, देखे क्या हो आली।
तू कहती है–'चन्द्रोदय ही काली मे उजियाली!
सिर आखो पर क्यो न कुमुदिनी लेगी वह पद-लाली!'

किन्तु करेंगे कोक शोक की तारे जो रखवाली।
फिर प्रभात होगा क्या सचमुच ? तो कृतार्थ यह चेरी,
जीवन के पहले प्रभात मे आख खुली जब मेरी।

उस दीर्घ अवधि के बाद भी कुमुदिनी प्रियतम की पद-लाली सिर आखों पर लेना चाहेगी, उसका तो वह धर्म ही है। पर प्रकृति के वज्र-नियम से उस दीर्घ व्यवधान के बाद उस मिलन सुख में कोक-शोक जो सालने लगेगा! निश्चय ही कुमुदिनी के अन्तर मे वह अमिश्रित उमग और उत्साह नही रहेगा जो जीवन के मध्याह्नकाल मे प्रिय का संसर्ग बने रहने में होता, वह व्यवधान अपने-आप जीवन की कुछ दूसरी धाराएँ भी लेता जायगा, जो गहन अँधेरी होगी। मानव जीवन की यही ट्रेजेडी है। पर फिर भी प्रणय हार मानना नही चाहता। उस सध्या के बाद भी वह फिर नये सिरे से नये प्रभात की आशा मे, अलख जगाता रहेगा।

ऊर्मिला की विरह-वेदना की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह उसके अन्तर के उन रहस्य-पटों को एक-एक करके खोलती चली जाती है जो इतने अर्से तक एक ओर उसकी सहृदय कर्त्तव्य-परम्परा और भोले हृदय और दूसरी ओर कठोर, वास्तविक संसार के बीच सघन पर्दा डाले हुए थे।

जहां विरह ने भार दिया है किया वहा उपकार भी,
सुध-बुध हर ली, किन्तु दिया है काल ज्ञान विचार भी,
जाना मैंने इस उर मे थी ज्वाला भी जलधार भी,
प्रिय ही नही यहा मैं भी थी और एक संसार भी।

जब तक प्रिय निकट थे तब तक उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उन्ही में विलीन था। प्रियतम, अपना निजत्व, और दोनो से अलग विराट संसार—इन तीनों के बीच मे कहीं कोई व्यवधान नही जान पडता था। पर प्रिय के विलगते ही उसे अपने निजत्व का पता चला जो अत्यन्त मार्मिक शूल वेदना का अनुभव करता है और साथ ही उस विराट संसार के अस्तित्व का भी अनुभव उसे हुआ जो उस मर्मान्तिक वेदना की सम्पूर्ण उपेक्षा किये अपना सारा कार्य नियमित रूप से चलाये जा रहा था।

ऊर्मिला इस बात का अनुभव अवश्य करती है कि प्रेम दोनो ओर जलता है—पतंग भी जलता है और दीपक भी निरन्तर जलता ही रहता है। पर साथ ही यह ज्ञान भी उसे हो जाता है कि दीपक केवल-मात्र पतंग के लिये नहीं जलता, उसका ध्येय वहीं तक सीमित नहीं है, उसकी महत्त्वाकांक्षा का क्षेत्र बहुत व्यापक है—आत्मत्याग की परिधि बहुत विस्तृत है। वह अपने अन्तर्प्राणों का स्नेह पिला-पिलाकर जिस ज्योति को जलाता है उसकी लौ किसी दूसरी ही महाज्योति में अपने को विलीन करने की प्रतीक्षा में रहती है। इसके अतिरिक्त अपने को केवल जलाते रहने में ही उसे सुख है। उसका आत्म-त्याग, आत्म-प्रज्वालन पतग के लिये नहीं, अपने अहम् की तृप्ति के लिये है।

> दीपक के जलने में आली, फिर भी है जीवन की लाली,
> किन्तु पतग भाग्य लिपि काली, किसका वश चलता है?

वह जान जाती है अपने युग के पुरुषों की इस आत्म-परायण दार्शनिक नीति को—"अपि स्नेदहात् किमुतेन्द्रियार्थात् यशोधनाना हि यशो गरीयः"—यश को ही जीवन धन समझने वाले महापुरुषो के लिये अपने प्राणों से भी यश प्यारा है, फिर इन्द्रिय-सुख-विषयक वस्तुओं की (जिनके अन्तर्गत उस युग के दृष्टिकोण मे स्त्री भी आती थीं!) बात ही क्या है! पर लक्ष्मण को ठीक यशोधन न कहकर हम तपोधन कह सकते हैं।

तप केवल तप के लिये, त्याग केवल त्याग के लिये—चिर-प्रतिभा शाली पुरुष-प्रवृत्ति का यह चिर-रूप जलते रहने वाले दीपक की तरह ही प्रदीप्त किन्तु निपट निर्मम है। स्नेह-प्रेम, दया-माया की करुण कोमल साधना में पली हुई नारी उस ऐकातिक निष्ठुरता का कोई उद्देश्य समझ ही नहीं पाती। पतग की तरह ही उसे अक्सर भ्रम होने लगता है कि दीपक उसी के लिये जल रहा है। दीपक उसकी इस नादानी पर केवल सिर हिला कर मुस्करा देता है। यह सही है कि वह बीच-बीच में नादान पतग को निषेध भी करता है। पर पतंग अपने मरने के अधिकार को त्यागने को कभी तैयार नहीं होता:

कहता है पतंग मन मारे—
तुम महान मैं लघु, पर प्यारे क्या न मरण भी, हाथ हमारे
शरण किसे छलता है

पर मरणधर्मा पतंग के भीतर भी बीच-बीच में स्वाभिमान की चेतना जग उठती है। केवल जलने के लिये जलने वाले, केवल तपने के लिये तपने वाले दीपक के प्रति आत्मार्पण करना उसे जैसे अखरने लगता है। उसके भीतर द्वन्द्व चलता है, पर फिर वह पराजित हो जाता है। फिर उसी अखंड ज्योति में जलकर भस्म होने की प्रवृत्ति जोर मारती है। पतंग अपने विद्रोह की निरर्थकता समझ जाता है और केवल कातर प्रार्थना करता है :

मन को यों मत जीतो !
बैठी है यह यहां मानिनी, सुध लो इसकी भी तो !
इतना तप न तपो तुम प्यारे, जले आग सी जिसके मारे,
देखो ग्रीष्म-भीष्म तनु धारे, जन को भी मन चीतो !
प्यासे हे प्रियतम, सब प्राणी, उन पर दया करो हे दानी,
इन प्यासी आंखों में पानी, मानस, कभी न रीतो।
मन को यों मत जीतो !

प्रियतम के प्रेम-रस की रस-प्यासी मानिनी धीरे-धीरे इस सत्य को महसूस करने लगती है कि केवल उसकी अकेले की तृषा के उपराम की कामना कभी उसे स्थायी तृप्ति नहीं दे सकती। समस्त विश्व के व्याकुल प्राणों की प्यास बुझे, जब तक यह कामना उसके अन्तर्मन से नहीं निकलती तब तक उसके व्यक्तिगत विलाप और रुदन की कोई सार्थकता नहीं है। इसीलिये वह वर्षा के सजल घन से प्रार्थना करती है :

बरसो, बरसो घन, बरसो !
सरसो जीर्ण-शीर्ण जगती के तुम नव-यौवन बरसो !
घुमड़ उठो अषाढ़ उमड़ कर पावन सावन बरसो !
सृष्टि दृष्टि के अंजन रंजन, ताप विभंजन, बरसो !
जड़ चेतन में बिजली भर दो, ओ उद्‌बोधन बरसो !

घट पूरें, त्रिभुवन मानस-रस, कन-कन छन-छन बरसो !
आज भीगते ही घर पहुँचे, जन-जन के जन बरसो !

षट्-ऋतुओं के आवर्त्तन मे, प्रकृति के प्रमुदित नर्तन में और जन-जन के हास-रुदन में प्रियतम के ही व्यक्तित्व का मगलमय प्रस्फुटन पाती हुई ऊर्मिला अपनी व्यक्तिगत प्रेम-पीडा विश्व-प्रेम और विश्व-पीड़ा में विलयित करने के लिए आकुल हो उठती है। प्रेम की इस उदार परिस्थिति में ही 'साकेत' की ऊर्मिला की सार्थकता है :

रह चिर दिन तू हरी-भरी, बढ सुख से बढ़ सृष्टि-सुन्दरी,
सुध प्रियतम की मिले मुझे, फल जन-जीवन दान का तुझे,
हँसो, हँसो हे शशि फूल फूलो, हसो हिंडोरे पर बैठ झूलो,
प्रकृति, तू प्रिय की स्मित-मूर्ति है, जडित चेतन की त्रुटि-पूर्ति है,
रख सजीव मुझे मन की व्यथा, कह सखा, कह तू उनकी कथा,

ऊर्मिला के इस मनोभाव का सारा निचोड इन दो पंक्तियों में आ जाता है :

तरसूँ मुझ-सी मैं ही, सरसे-हरसे-हँसे प्रकृति प्यारी,
सब को सुख होगा तो, मेरी भी आएगी बारी।

हम भी कहना चाहते हैं—"एवमस्तु !"

प्रसाद की काव्यधारा और उसकी परिणति

हिन्दी काव्यरस की जो रुद्ध धारा एक संकीर्ण आवर्त के भीतर आबद्ध थी और उस अंधकूप से बाहर निकलने का कोई पथ न पाकर अपनी दुर्गन्ध से अपने आप भाराक्रान्त हो रही थी, प्रसाद जी ने अपनी प्रबल प्रतिभा से उसका अवरोध विदीर्ण कर दिया, उसके मुक्त स्रोत को शत-शत धाराओं में उच्छ्वसित होकर एक विशाल झरने की तरह अप्रतिहत प्रवेग से बह निकलने का मार्ग सुगम कर दिया। जिस प्रतिभा ने युग-युगव्यापी जड़ता से तमस्च्छन्न हमारे साहित्य जगत के आकाश में नवीन प्रकाश तथा उन्मुक्तोल्लास का संचार किया, वह कैसी असाधारण रही होगी, इसका अनुमान भावुक जन भलीभांति लगा सकते हैं।

बचपन में 'कविता-कुसुम-माला' में संगृहीत कविताओं में निम्न कोटि की पंक्तियां पढ़ने को मिलती थीं :

"ब्रह्मन्, तजे पुस्तक प्रेम आप,
देता तुम्हें हूं यह राज्य सारा,
मुझसे कहेगा यदि चक्रवर्त्ती
ऐसा न राजन, कहिये, कहूँ मैं।"

× ×

"अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है
क्यों न इसे सब का मन चाहे !"

× × ×

"क्यों पाप पुण्य पचड़ा जग बीच छाया ?"

इस श्रेणी की कविताओं के विचित्र 'कुसुमों' का आघ्राण करते-करते जब सिर में दर्द होने लगा तो एक दिन 'इन्दु' की एक फाइल कहीं से मिल

गई। उसके पृष्ठों को उलटते हुए अकस्मात् एक कविता की निम्न पंक्तियों पर आँखे गड़ गयी :

आकाश श्री - सम्पन्न था
नव नीरदों से था घिरा,
सध्या मनोहर खेलती थी,
नील-पट तम का गिरा।
यह चचला चपला दिखाती
थी कभी अपनी कला,
ज्यो वीर वारिद की प्रभामय
रत्नवाली मेखला।
हर ओर हरियाली, विटप डाली
कुसुम से पूर्ण हैं,
मकरदमय ज्यो कामिनी के
नेत्र मद से घूर्ण हैं।

इन पंक्तियो के आविष्कार से ऐसा अनुभव होने लगा, जैसे तत्कालीन हिन्दी कविता के निश्चल जगद्दल पाषाण की जडता को भेद कर गद्गद प्रवेग से निर्झर-स्रोत फूट निकला हो और उसका अविरत प्रवाह हृदय के प्रान्त-प्रान्त को अपनी स्निग्ध सरसता से सिंचित करने लगा।

यह कविता बाद मे प्रसाद जी की अन्यान्य कविताओ के साथ 'कानन-कुसुम' नामक संग्रह मे सकलित हो गयी थी। 'कानन कुसुम' की कविताओं में छायावाद के आगमन की सूचना उसी प्रकार स्पष्ट दिखाई देती है जिस प्रकार प्रयाग के सगम में गंगाजल मे यमुना की नीली झाईं स्पष्ट झलक उठती है। इस सग्रह की एक और कविता 'प्रथम प्रभात' की कुछ पंक्तिया हम उद्धृत करते हैं, जिनसे हमारा वक्तव्य और भी स्पष्ट हो जायगा :

मनोवृत्तियाँ खग कुल की थीं सो रही
अन्त.करण नवीन मनोहर नीड़ में।
नील गगन सा शान्त हृदय भी हो रहा,

वाह्य, आन्तरिक प्रगति सभी सोती रही।
स्पन्दनहीन नवीन मुकुल मन तुष्ट था,
अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरंद में,
अहा अचानक किस मलयानिल ने तभी
(फूलों के सौरभ से पूरा लदा हुआ)
आते ही कर स्पर्श गुदगुदाया हमें!
वर्षा होने लगी कुसुम मकरंद की,
प्राण पपीहा बोल उठा आनन्द में;
कैसी छवि ने बालारुण सी प्रकट हो,
शून्य हृदय को नवल राग रंजित किया!

हिन्दी काव्य भावनाहीन तुकबंदी के कठोर कारागार में पड़ा-पड़ा कराह रहा था। प्रसाद जी ने उसकी शृंखलाओं को तोड़ कर उसे अपने मन के भव्य प्रसाद से संलग्न रम्य हृदयोद्यान मे लाकर मुक्त वातावरण मे विचरने को छोड़ दिया, जहा वह चिदानन्दमय रस के मानस मे डूबता-उतराता हुआ मधुर मोह-माया का अनुभव करने लगा। ऊपर उद्धृत की गई कविता 'प्रथम प्रभात' प्रायः ४५ वर्ष पहले लिखी गई थी। अर्थात् वह उस युग में लिखी गई थी जब हिन्दी की तुकबन्दी का युग एक ओर पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था, और दूसरी ओर उसके नीचे से मिट्टी खिसकने सी लगी थी। तुकबंदी की उस सुदृढ नींव को ढहाने में प्रसाद जी का प्रमुख हाथ रहा है।

'कानन-कुसुम' में छायावादी कविता का जो स्रोत निकला था, वह आगे बढ़ कर निर्झर के राशि-राशि जल-प्रपात की तरह 'झरना' के रूप में बहने लगा। 'झरना' नामक कविता सग्रह में विशुद्ध छायावाद का रस हिन्दी साहित्य में प्रथम बार परिपूर्ण रूप से छलकता हुआ दिखाई दिया। झरने पर यदि तुकबन्दी युग का कोई कवि कविता करने बैठता तो सभवतः इस तरह की पक्तियां लिखता :

झरने! तेरा कल कल नाद, मन को पहुँचाता आह्लाद!

तेरा स्वच्छ सुशीतल नीर; मन को करता हर्ष-अधीर !
अहो शैल के पुत्र महान ! मुनिगण तुझ में करते स्नान !
कहा तुम्हारा तीर्थ-स्थान ? किस सरिता का तुमको ध्यान ?
धन्य धन्य हो तुम, निर्झर ! बहते हो नित झर झर झर !

पर प्रसाद जी ने उसी युग में झरने पर जो कविता लिखी वह इस प्रकार थी :

मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी, न है उत्पात, घटा है छहरी,
मनोहर झरना !
कठिन गिरि कहा विदारित करना, बात कुछ छिपी हुई है गहरी,
मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी ।
कल्पनातीत काल की रचना, हृदय को लगी अचानक रटना ।
देख कर झरना,
प्रथम वर्षा से इसका झरना—स्मरण हो रहा शैल का कटना ;
कल्पनातीत काल की घटना !
कर गई प्लावित तन मन सारा एक दिन तव अपांग की धारा !
हृदय से झरना—
बह चला, जैसे दृगजल ढरना,
प्रणय-वन्या ने किया पसारा, कर गई प्लावित तन मन सारा !

प्रसाद जी का यह झरना हृदय के अंतस्तलकी गिरि गुहाओं को विदीर्ण करता हुआ प्रेम-रस के प्लावन से विह्वल हो कर बह रहा है । यह पार्थिव जगत का वह झरना नहीं है "जिसमे मुनिगण करते स्नान ।" व्यक्ति की अन्तःप्रवृत्ति के भावों के दोलन और उद्वेलन का प्रदर्शन हम हिन्दी कविता में पहले पहल प्रसाद जी की कविता में ही पाते हैं । वस्तु-जगत के झरने को अन्तर्जगत के प्रेमोद्वेलन का रूपक बना कर उसके कल-कल क्रन्दन की भावतरंगों को उच्छल उद्वेग में परिणत कर देने का अर्थ है पाठ्य पुस्तकों की जड़ तुकबंदी को चेतनोत्सारिणी का रूप दे देना ।

छायावादी कविता ने अपने युग में जो विजय का डंका बजाया था उसका मूल कारण इसी बात पर निहित है। प्रसाद जी की प्रतिभा का विशेषत्व भी इसी में है।

प्रसाद जी के इस 'झरने' से रवीन्द्रनाथ के 'निर्झर' की तुलना की जा सकती है। रवीन्द्रनाथ का मन-रूपी निर्झर अपने अन्तर की अन्धगुहा के कारागार में आबद्ध रहने के बाद जब अकस्मात एक दिन प्रबल वेग से उमड़ता हुआ मुक्त आलोक में प्रवाहित हो पड़ा तो उसने बंग काव्य क्षेत्र में एक मूलतः नयी धारा का आनयन कर दिया। रवीन्द्रनाथ का वह 'निर्झर' अपने विजयोल्लास को इस प्रकार के स्वच्छन्द छन्द की गति में व्यक्त करता है :

> आजि ए प्रभाते रविर कर केमने पशिलो प्राणेर पर,
> केमने पशिलो गुहार आँधारे प्रभात पाखीर गान!
> जागिया उठेछे प्राण ओरे उथलि उठेछे वारि,
> ओरे प्राणेर वासना प्राणेर आवेग रूधिया राखिते नारि!
> थर थर करि कांपिछे भूधर शिला राशि राशि पड़िछे खसे,
> फूलिया-फूलिया फेनिल सलिल गरजि उठिछे दारुण रोषे!
> भाग्‌रे हृदय भाग्‌रे बाधन, साध रे आजिके प्राणेर साधन,
> लहरीर परे लहरी तुलिया आघातेर परे आघात कर!
> मातिया जखन उठेछे पराण किसेर आधार किसेर पाषाण!
> उथलि जखन उठेछे वासना जगते तखन किसेर डर!
> आमि ढालिबो करुणाधारा, आमि भागिवो पाषाण कारा,
> जगत प्लाविया बेड़ाबो गाहिया आकुल पागल पारा।
> रविर किरणे हासि छड़ाइया दिबो रे पराण ढालि,
> हेसे खल खल गेये कल कल ताले ताले दिबो तालि।

अर्थात् : "आज के इस प्रभात में रवि की किरणें मेरे हृदय में न जाने कैसे प्रवेश कर गईं! मेरे भीतर की अंधेरी गुफा में प्रभात पंछी की तान कैसे आ पहुँची! आज मेरे प्राण जाग उठे हैं। अरे, मेरे हृदय में जल

राशि उमड उठी है। अब मैं अपने हृदय की वासना और प्राणों के आवेग को रोक नहीं पाता।

"भूधर थर थर करके काप रहा है, राशि राशि शिलाखड खिसकते जा रहे हैं। फेनिल जल फूल-फूल कर दारुण रोष से गरज उठता है।"

"हृदय! आज बधन को छिन्न करके अपनी अभिलाषा पूरी कर ले। लहर पर लहर उठा कर आघात पर आघात करता चला जा। जब प्राण मतवाले हो उठे हैं तब कहा का अंधकार और कैसा पाषाण! जब वासना उथल उठी है तब ससार मे अब किसका डर है!"

"मैं करुणा-धारा बहाऊगा। मैं पाषाण-कारा को तोड डालूँगा। मैं समस्त जगत को प्लावित करता हुआ आकुल हो कर पागलो की तरह गाता चला जाऊगा। सूर्य की किरणो मे अपना हास्य बिखेर कर अपने प्राणो का रस ढाल दूँगा। मैं खिलखिल कर हँसूंगा, कल कल शब्द से गाऊगा और ताल ताल पर ताली बजाऊगा।"

रवीन्द्रनाथ के इस निर्झर मे और प्रसाद जी के 'झरने' मे यह साम्य है कि दोनों भाव-प्रधान हैं। दोनो मानस-निर्झर हैं न कि किसी वास्तविक गिरि प्रान्त से संबंध रखने वाले पार्थिव निर्झर। दोनो ने अपने युगो मे अपने-अपने साहित्य-क्षेत्रों मे क्रान्ति की लहर दौडायी। अन्तर केवल यह है कि रवीन्द्रनाथ के निर्झर की धारा अधिक प्रखर तथा वेगशील है और प्रसाद जी का 'झरना' करुण तथा क्लात गति से वह चला है। मानव-मन को झरने के रूपक मे बाधकर दोनो की गतिशीलता तथा उत्ताल तरंगाभिघात की समता का प्रदर्शन मनोहर छन्द-सगीत तथा ध्वन्यात्मक प्रवाह द्वारा करना किसी आचार्य का ही काम है। प्रसाद जी इस कला के विशेषज्ञ थे।

तथापि 'झरना' मे हम प्रसाद जी को उनके वास्तविक रूप में नहीं पाते। इस सग्रह की अधिकाश कविताओ मे रवीन्द्रनाथ की रहस्यवादी कविताओं का अनुकरण पाया जाता है और वह भी कुछ विशेष सुन्दर रूप में नहीं! उदाहरण के लिये:

स्वप्नलोक में आज जागरण के समय
प्रत्याशा की उन्कठा मे पूर्ण था
हृदय हमारा, फूल रहा था कुसुम सा!
देर तुम्हारे आने में थी, इसलिये
कलियो की माला विरचित की थी कि, हा
जब तक तुम आओगे ये खिल जायेगी!
आख खोल देखा तो चन्द्रालोक मे
रजित कोमल बादल नभ मे छा गये,
जिसपर पवन सहारे तुम हो जा रहे!
हाय, कली थी एक हृदय के पास ही,
माला मे वह गडने लगी, न खिल सकी!

इस प्रकार की पक्तियो को पढने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कवि रहस्यवादी बनने के प्रथम प्रयास में कष्ट-कल्पित भावो के जाल में बुरी तरह उलझ गया है और आन्तरिक अनभूति से वह कोसों दूर है। फिर भी अनुकरण का यह प्रयास इस दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है कि उसने हिन्दी कविता की गति को मूलतः नये प्रवाहपथ की ओर मोड़ने में सफलता पायी है।

जिन कविताओं पर रवीन्द्रनाथ की छाया नहीं पडी है, वे अपने सहज सौरभ के विकास से स्वयं आमोदित हैं। उदाहरण के लिये:

शून्य हृदय मे प्रेम जलद माला,
कब फिर घिर आवेगी?
वर्षा इन आखों से होगी,
कब हरियाली छावेगी?
रिक्त हो रही मधु से,
सौरभ सूख रहा है आतप से,
सुमन कली खिलकर कब अपनी
पंखड़िया बिखरावेगी?

लंबी विश्वकथा में
सुख-निद्रा समान इन आखो में
सरस मधुर छवि शाति तुम्हारी
कब आकर बस जावेगी ?

इन पक्तियों में कृत्रिम काव्य-कल्पना की क्रीडा नही, बल्कि अतर के सच्चे भावों का मर्मोद्‌गार व्यक्त होता है।

'झरना' की फेन-तंरगित धारा को हम आगे जाकर 'आसू' की पावस सरिता के रूप में गद्‌गद होकर उमडते हुए पाते हैं। 'आसू' की गीतिमय वेदना मे प्रसाद जी के हृदय की विह्वल भावुकता उच्छल क्रन्दन के साथ अभिनव रूप में व्यक्त हुई है। निर्झर जब उत्तुंग गिरि-शृंग से नीचे घाटी पर उतरता है, तब वह जिस मथर, तथापि अधीर कलरोल से बहने लगता है, वह 'आसू' के प्रारभिक पदो मे ही व्यक्त हो उठता है। इन प्रसिद्ध और बहु-उद्धृत पक्तियों को उद्धृत करने का लोभ मैं भी नहीं सभाल पाता हूँ :

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती,
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ?
मानव सागर के तट पर
क्यो लोल लहर की घातें
कलकल ध्वनि में हैं कहती
कुछ विस्मृत बीती बातें ?
आती है विकल क्षितिज से
क्यो लौट प्रतिध्वनि मेरी ?
टकराती, बिलखाती सी
पगली से देती फेरी।
क्यो व्यथित व्योम गगा सी
छिटकाकर दोनो छोरें,

चेतना तरगिणि मेरी
लेती है मृदुल हिलोरें,?

प्रसाद जी की इन पक्तियो ने हिन्दी जगत् को प्रथम वार उस वेदना-वाद की मादकता से विभोर किया जिससे बाद मे सारा छायावादी युग मतवाला हो उठा था। वेदना की भयकर बाढ़ में सारे युग को परिप्लावित कर देने की जैसी क्षमता प्रसाद जी के इन 'आसुओं' मे रही है वह हमारे साहित्य के इतिहास मे वास्तव मे अतुलनीय है।

'आसू' मे प्रसाद जी ने अपनी विकल वेदना से अभिसिंचित प्रेम की विस्मृत बातो को पुनः स्मृति मे लाते हुए जो 'करुणा-कलित' गान गाया है पूर्व पदो में उनकी उच्छ्वसित फेनिलता अत्यन्त मार्मिकता मे छलक उठी है। अपने चित्त-गगन के नीलम-निभ असीम प्याले को अपने अव्यक्त प्रिय पात्र के प्रति उमडे हुए स्नेह-रस से लबालब भरने के बाद जब कवि सहसा अपने उस चिर-पूरित प्याले को एक दिन रिक्त पाता है, तब उस रिक्तता-जनित सूनेपन की वेदना से उसकी सारी आत्मा ओत-प्रोत हो जाती है ! 'आसू' के कण-कण से वेदना बरबस ढुलक-ढुलक पडती है।

'आसू' का अरण्य-रोदन केवल इसलिये नही है कि प्रेमरस से भरी जीवन की प्याली खाली हो गयी ! सब से अधिक दुःख कवि को इस बात का है कि काल का क्रूर चक्र मानव-सागर के तट पर अभिनव तथा अलौकिक रस-रंग मे निमग्न प्राणो को अकूल समुद्र मे बहाकर अनत शून्य में छोड कर चला गया :

नाविक, इस सूने तट पर
किन लहरो मे खे लाया,
इस बीहड बेला मे क्या
अब तक था कोई आया ?
प्रत्यावर्तन के पथ मे
पद-चिन्ह न शेष रहा है,
डूबा है हृदय मरुस्थल

आसू नद उमड रहा है!
अवकाश शून्य फैला है,
है शक्ति न और सहारा
अपदार्थ तिरूगा मै क्या,
हो भी कुछ कूल किनारा ?

अज्ञात, असीम सागर की विक्षुब्ध लोल-लहरियों के उत्ताल तरंगा-भिघात मे मनोनौका के टकरा जाने पर जो उदास हाहाकार प्रसाद जी के आस्र-भरे पदो मे व्यक्त हुआ है, उसकी पुराध्वनि हम फ्रेंच कवि लामार्तीन की 'ले लाक' (सरोवर) शीर्षक कविता मे पाते है। लामार्तीन चिरविरह की भावना से विकल होकर लिखता है :

"हाय, समय ईर्ष्यापरायण है! हे अनत! हे काल के गहन तामसिक गह्वर! तुम हमारे आनन्द के जिन क्षणो को निगल जाते हो उन्हे लेकर तुम क्या करते हो? कहो, क्या तुम मेरी उन पवित्र पुलकानुभूतियो को नही फेरोगे जिन्हे तुम चुरा ले गये हो? हे सरोवर! हे स्तब्ध पाषाण! गहन अरण्य! हे भुवनमोहिनी, मायाविन प्रकृति देवी के अनुचरो! कम से कम आज रात के लिये मेरे विगत आनद के दिनो की मधुर स्मृति को तो जागरित रहने दो! हाय, वह मजुल पवन, जो मद मद प्रवाहित हो रहा है, यह नरकुल, जो आहे भर रहा है, यह भीनी भीनी स्निग्ध सुगधि, जो सारे वातावरण को आमोदित किए हुए है, जो कुछ भी मै देख रहा हू, सुन रहा हू, निःश्वास द्वारा ग्रहण कर रहा हू सब यही कहते हुए जान पडते है कि वे लोग प्यार कर चुके!"

प्यार कर चुके! अब वह प्यार कभी नही लौटेगा, और न विरही प्रेमिक ही अब प्रत्यावर्तन के पथ से होकर अपने अतीत के नीड मे वापस जा सकेगा, क्योकि अब "पद-चिन्ह न शेष रहा है!" और

निर्मोह काल के काले
पट पर कुछ अस्फुट लेखा
सब लिखी पढ़ी रह जाती

सुख दुखमय जीवन रेखा !
दुख सुख मे उठता गिरता
ससार तिरोहित होगा !
मुडकर न कभी देखेगा
किस-किसका अनहित होगा !

इस अनंत विश्व की चिर-संसरणशील लीला निर्मम काल के काले पट पर सुख दुःखमय जीवन की चिह्नरेखा को स्मृति रूप में भले ही छोड़ जाय, पर जिस वास्तविकता को वह काल की गति के साथ ढो ले जाती है वह फिर कभी नहीं लौटती। 'आसू' का दर्शन इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है!

विस्मृति की निद्रा मे उसका स्वप्न लौट कर आ सकता है, पर वह स्वयं सजीव और सप्राण रूप मे नही आ सकती। प्रसाद जी के 'आसू' मे चिदानंदमय मिलन के खोने की वेदना के साथ साथ स्वप्न की सान्त्वना भी पाई जाती है, पर लामर्तीन की तरह उस सान्त्वना से कवि को स्वय तोष नहीं होता। कारण यह है कि वास्तविकता वास्तविकता ही है और स्वप्न स्वप्न।

प्रसाद जी के 'आसू' से लामार्तीन की 'सरोवर' शीर्षक कविता का मैं जितना ही मिलान करता हू, उन दोनों मे भावों का आश्चर्यजनक साम्य पाकर उतना ही चकित होता हू। प्रसादजी ने निश्चय ही लामार्तीन की कविता नही पढी थी, दोनों अपने अपने जीवन के निजी अनुभवों से एक ही अनुभूति पर पहुँचे थे!

'आंसू' के बाद प्रसादजी की 'लहर' हमारे सामने आती है। यह लहर उनके अतल मानस की गहराई से उठी है। मानस की यह गहराई कैसी है?

ओ री मानस की गहराई!
तू सुप्त शात, कितनी शीतल—
निर्वात मेघ ज्यों पूरित जल!
नव मुकुर नीलमणि फलक अमल

ओ पारदर्शिका ! चिर-चंचल,
यह विश्व बना है परछाई !
तेरा विषाद-द्रव तरल तरल
मूर्छित न रहे ज्यो पिये गरल,
सुख लहर उठा री सरल सरल,
लघु लघु सुन्दर सुन्दर अविरल !
तू हँस, जीवन की सुघराई !
ओ री मानस की गहराई !

इसी लघु सुन्दर, अविरल, सरल लहर की धारा तरल विषाद-द्रव के मधुर सम्मिश्रण के साथ 'लहर' की कविताओं मे उमड चली है। प्रारभिक कविता में इस लहर का चित्रण किंचित् विशद रूप से किया गया है :

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर !
करुणा की नव अगडाई सी,
मलयानिल की परछाईं सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर !
शीतल कोमल चिरकपन सी,
दुर्ललित हठीले बचपन सी,
तू लौट कहा जाती है री
यह खेल खेल से ठहर ठहर ?
उठ उठ, गिर गिर, फिर फिर आती,
नर्तित पद-चिन्ह बना जाती,
सिकता की रेखाये उभार
भर जाती अपनी तरल सिहर !
तू भूल न री पंकज वन मे,
जीवन के इस सूनेपन मे,
ओ प्यार-पुलक से भरी ढुलक,
आ चूम पुलिन के विरस अधर !

लहर कुछ दूसरे ही ढंग की है ! इसकी अठखेलियो में वह इठलाने का भाव, वह नृत्योल्लास, वह वकिम तरंगिमा, वह चपल भगिमा, वह मरोर, सौ सौ छन्दों मे स्वच्छन्द थिरकने की वह सुंदर कला नही पाई जाती, जो हम पत जी के 'पल्लव' वाले 'वीचि-विलास' मे पाते हैं। प्रसाद जी की इस लहर मे पाया जाता है जीवन के दीर्घ अनुभव के श्रम से श्रान्त पथिक के सूने विश्राम तट पर करुणा की नव अंगडाई के साथ लघु-लघु लोल-गति से छहरने का भाव ! पंतजी के 'वीचि-विलास' मे नवयोवनोन्माद है, और इसमे है श्लथ करुणा का अलस वेदन। इसकी अपनी एक निजी और निराली विशेपता है। 'लहर' की सब कविताओ मे आसन्न जीवन-सध्या का करुण विपाद किसी रहस्यमयी गुरु गभीर छाया से आवृत है ! 'लहर'-युग के प्रसादजी को हम जीवन और मृत्यु के उस सगम स्थल पर पहुँचा हुआ पाते हैं, जहा कवि विपुल श्यामल पृथ्वी के छोर पर खडा होकर विशाल जलधि के नील अक में निस्सीम व्योम की प्रतिच्छाया देख रहा है, और रवीन्द्रनाथ की तरह कहता है :

ए नहे मुखर वन-मर्मर-गुञ्जित,
ए जे अजागर गरजे सागर फूलिछे !

"यह मुखर वन का मर्मर गुञ्जन नही है, यहा तो विराट अजगर की फुफकार की तरह सागर का उच्छ्वसित गर्जन सुनाई देता है।"

जीवन-मरण के इस सगम के सम्बन्ध मे कवि कहता है :

हे सागर सगम अरुण नील !
अतलात महागभीर जलधि—
तजकर अपनी यह नियत अवधि,
लहरो के भीषण हासो मे,
युग युग की मधुर कामना के
बधन को देता जहा ढील !
हे सागर-संगम अरुण नील !

इन पंक्तियो से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि केवल जीवन-लहरी के

फेनिलोच्छ्वासों से ही क्रीडा करना नही चाहता, वह उनके उद्गम की तह तक गोता लगाने के लिये उत्सुक है। इस सगम तट मे कवि जब इस पार की ओर निहार कर विगत जीवन के स्मृति मथन से आदोलित हो उठता है, तो एक विचित्र सृष्टि-सौदर्य की झाकी उसके मन मे उदित हो जाती है और उसकी कल्पना कूक उठती है :

श्यामा सृष्टि युवती थी
तारक खचित नील पट परिधान था।
अखिल अनंत मे
चमक रही थी लालसा की दीप्त मणिया
ज्योतिर्मयी, हासमयी, विकल विलासमयी!
हरा भरा पुलिन अलस नींद ले रहा!
सृष्टि के रहस्य सी परखने को मुझे
तारकाएं झाकती थी!
शत शत दलो की
प्रमुदित मधुर गंध भीनी भीनी रोम मे
बहाती लावण्य-धारा।

कवि की इस कल्पना मे विगत उल्लसित जीवन की स्मृति-छाया का तरलाभास स्पष्ट झलक रहा है। पर जब वह पीछे की ओर से मुह मोडकर सामने उस पार के अनंत प्रसार की ओर देखता है, तो एक अव्यक्त विषादमय हाहाकार से उसका हृदय हहर उठता है। पीछे की स्मृति और आगे की विस्मृति उसे जब अत्यत विकल करने लगती है, तो वह एक मार्मिक दार्शनिकता से सतोष प्राप्त करना चहता है :

सागर लहरो सा आलिंगन
निष्फल उठकर गिरता प्रतिदिन,
जल-वैभव है सीमा-विहीन
वह रहा एक कन को निहार,
धीरे से वह उठता पुकार;

मुझको न मिला रे कभी प्यार!
पागल रे! वह मिलता है कब?
उसको तो देते ही हैं सब,
आसू के कन कन से गिनकर
यह विश्व लिये है ऋण उधार,
तू क्यो फिर उठता है पुकार
मुझको न मिला रे कभी प्यार?

अंतिम पक्तियो मे अतल नैराश्य-भरी करुण वेदना व्यजित हुई है। उसकी तुलना वसुधा के अचल पर टकराने वाली उन सागर-लहरियो के युगयुगात व्यापी कल-क्रन्दन से की जा सकती है, जो पृथ्वी में कभी अपनी प्रीति का प्रतिदान नही मागती और अविरल रोदन को ही अपने उद्देश्य की सार्थकता समझती है!

मानवात्मा के निष्काम प्रेम की चिरकरुण मर्मध्वनि उक्त पदों मे फूट पड़ी है।

प्रसाद जी के झरने से 'आसू' की बूँदे छहर कर जिस सागरसंगमोन्मुखी 'लहर' में मिलकर एकाकार हुई हैं वे 'कामायनी' के महासागर में जाकर विलीन हो गई हैं। इस महासागर मे केवल प्रसाद जी की ही अन्य रचनाएँ नहीं समा गयी हैं, बल्कि छायावादी युग के प्राय: सभी कवियो की काव्य-सरिता-धाराएँ इसकी अतलव्यापी गभीरता में जैसे विलीन हो गई हैं। 'कामायनी' को पढने के बाद प्रसाद जी की सब रचनाएँ अत्यन्त फीकी और हलकी जान पडने लगती हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से 'कामायनी' को छायावाद युग की चीज नहीं समझता हूँ, क्योकि प्रारंभ के छायावादी कवियों ने, जिनके आचार्य स्वयं प्रसाद जी थे, जिस सीमित और अहंगत अन्तर्वेदना और घोर असामाजिक तथा आत्मगत भावना का परिचय दिया, 'कामायनी' के कवि ने पूरी शक्ति से उसका विरोध किया है। 'कामायनी' हिन्दी जगत् का सब से पहला और सब से सुन्दर प्रगतिशील काव्य है। इस काव्य में कवि ने जीवन की गहराई मे पैठकर वर्तमान युग की समस्त

प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्तियों का पर्दाफाश ऐसे सुन्दर काव्यपूर्ण और नाटकीय ढंग से किया है कि कोई भी अनुभूतिशील व्यक्ति उसे पढ़कर विस्मय-विमुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसा बोध होने लगता है कि कवि जैसे जीवन और मृत्यु की सब शक्तियों से परिचित हो चुका है और उन शक्तियों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करके उन्हें एक-एक करके काव्य के अन्तर्जगत् के विशाल प्रांगण में तीर की तरह फर्राटे के साथ फेंक रहा है। उसके एक एक तीर के सम्बन्ध में हम उसी की भाषा में कह सकते हैं :

अस्तित्व चिरन्तन धनु से कब
यह छूट पड़ा है विषम तीर,
किस लक्ष्य भेद को शून्य चीर ?

'कामायनी' के सम्बन्ध मे मेरी यही धारणा है कि उसकी रचना मानवात्मा की उस चिरन्तन पुकार को लेकर हुई है जो आदि काल से चिर अमर आनद और चिरअजर शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा से व्याकुल है। इस घोर अहम्मन्यतापूर्ण दुर्दम आकांक्षा की चरितार्थता के प्रयत्न में मानव को जिन संकट-संकुल गिरि-पथों और जटिल-जाल-जड़ित गहन अरण्यों में घोर अंधकाराच्छन्न कराल रात्रियो का सामना करना पडता है उनके संघात की वेदना 'कामायनी' में बिजली की तरह चमकती और उसी की तरह कड़कती हुई बोल उठी है।

आत्मोत्कर्ष की प्रेरणा उच्च स्वार्थ से प्राणोदित भले ही हो, पर है वह स्वार्थ ही। सामान्य रूप से सभी मनुष्यों मे और विशेष रूप से प्रतिभाशाली पुरुषों में यह प्रवृत्ति जड पकड़े रहती है, पर उस जड के पास ही एक दूसरी प्रवृत्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण बीज पनपने की व्याकुलता व्यक्त करता रहता है। वह है विश्व-मानवात्मा के अनंत प्रेम सागर में अपने को विलीन कर देने की प्रवृत्ति। इन दो प्रवृत्तियों के संघर्ष का धूम्रोद्गार अपने विश्व-कुहर से आत्म-गगन को छा देने का प्रयत्न करता रहता है, और इस क्रिया-चक्र मे नियति-नटी के इन्द्रजाल की निर्मम क्रीडा चला करती है। जब जल-प्रलय के बाद सृष्टि में, क्रांति की उथल-पुथल मच जाने पर मनु

अपनी अंतरग प्रतिभा की सहज स्फूर्ति से मानवीय सृष्टि के लिये प्रेरित हुए और इस उद्देश्य से श्रद्धारूपिणी कामायनी के साथ सबन्ध स्थापित करने में समर्थ हुए तो वह भी आत्मोत्कर्ष और आत्मत्याग इन दो प्रवृत्तियो के संघर्ष के शिकार बने और इस द्वन्द्व के फलस्वरूप वह आर्तभाव से पुकार उठे :

इस विश्वकुहर में इन्द्रजाल
किसने रचकर फैलाया है ग्रह तारा विद्युत् नखतमाल
सागर की भीषणतम तरग सा खेल रहा वह महाकाल
तब क्या इस वसुधा के लघु लघु प्राणी को करने को सभीत,
उस निष्ठुर की रचना कठोर केवल विनाश की रही जीत ?
तब मूर्ख आज तक क्यो समझे है सृष्टि उसे जो नाशमयी ?
उसका अधिपति होगा कोई जिस तक दुख की न पुकार गई
सुख नीडो को घेरे रहता अविरत विषाद का चक्रवाल
किसने यह पट है दिया डाल ?

... .

जीवन निशीथ के अधकार !
तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम सा दुर्निवार,
जिसमें अपूर्ण लालसा कसक चिनगारी सी उठती पुकार,
यौवन मधुवन की कालिन्दी बह रही चूमकर सब दिगन्त,
मन शिशु की क्रीडा नौकाएँ बस दौड लगाती है अनन्त,
इस चिर प्रवास श्यामल पथ मे छाई पिक प्राणों की पुकार,
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार !

जीवन निशीथ के इसी अंधकार के बारे मे फ्रेंच कवि विक्तर ह्यूगो ने अपनी 'ला देस्तिने' शीर्षक कविता मे लिखा है : "मैं, जिसे कि लोग कवि कहते हैं, नीरव निशीथ के गहन तमसाच्छन्न और अनंत रहस्यपूर्ण सोपान की तरह हूँ। मेरे उस तमोजाल-पूर्ण सोपान मार्ग के चक्रवाल में छायानटी अपने नेत्र गह्वरों को विदारित किए रहती है !"

'कामायनी' की सारी कविता मे इसी माया-कुहेलिका के अधकार-मय पर्दे को भेद कर मुक्त प्रकाशमय जीवन-लोक मे प्रवेश करने की आकाक्षा प्रतिध्वनित हुई है। सकीर्ण अहम् के जटिल जाल की उलझन से मुक्ति पाकर विश्व के उदार प्रसार मे उतर और सामूहिक मानव के उत्कर्ष रूपी महायज्ञ मे सबके साथ समान रूप से हाथ बटाने का आदर्श प्रसाद जी ने इस काव्य मे निर्देशित किया है।

मनु की प्रतिभा आत्म विलास की स्वार्थगत भावना से प्रसूत होती है। श्रद्धा के संयोग से मनु की आत्मा में उसके हृदय की सवेदनात्मक छाया पडती है। पर चूँकि इस छाया से मनु के आत्मोकर्ष की सुख-साधना में बाधा पहुँचती है, इसलिये श्रद्धा को मनु त्याग देते है। इसके बाद इडा के सहयोग से उनके अतर में बुद्धि का तर्कजाल प्रसारित होने लगता है। आत्मोकर्ष की प्रवृत्ति, समवेदनशीलता, भावना और बुद्धि की तार्किकता ये तीनों मनुष्य की महाशक्तिया है। पर जब ये शक्तिया एक दूसरे से विच्छिन्न होकर परस्पर विरोधी रूप मे अपने-अपने ऐकातिक विकास मे रत होती हैं तो वे विश्व-नियम मे घोर वैषम्य, द्वद्व और अशाति उत्पन्न करती हैं और जब ये तीनों एक रूप मे मिलित होकर पारस्परिक सहयोग द्वारा विश्व की मूल शक्ति के साथ एकप्राण हो जाती है तो विश्व के चरम कल्याण मे सहायक सिद्ध होती है।

मनु अपने मन की अधशक्तियो के अनेक घात-प्रतिघातो के बाद अंत में इस महासत्य को समझ गये थे। बुद्धि की तार्किक छुरी द्वारा क्षत-विक्षत हुए अपने जीवन मे उन्होने श्रद्धा को फिर से वरण कर लिया और वरण करते ही उन्हे अनुभव हुआ कि :

सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रन्थि खोल,
तम जलनिधि का बन मधु मथन,
ज्योत्स्ना सरिता का आलिंगन,
वह रजत-गौर उज्वल जीवन,

आलोक-पुरुष ! मगल चेतन !
केवल प्रकाश का था कलोल,
मधु किरणों की थी लहर लोल !

कामायनी और इड़ा (श्रद्धा और बुद्धि) का मंगलमय सहयोग प्राप्त करके मनु समरसता के उदार प्रेममय सागर मे डुबकिया लगाने लगे।

हमें खेद है कि 'कामायनी' के सागर की एक साधारण सी लहर से भी हम पाठकों को परिचित न करा सके। वास्तव में इस महासागर की पूर्ण झाकी इस लेख में देना असभव है। इस अमूल्य रचना में प्रसादजी ने मानवात्मा की विभिन्न प्रवृत्तियो के घात प्रतिघातो का परिचय जिस नाटकीय निपुणता से दिया है वह गेटे की विश्वविख्यात रचना 'फाउस्ट' से टक्कर लेती है। विरोधी प्रवृत्तियों के सामजस्य का महान् आदर्श 'कामायनी' के कवि ने जिस सुन्दरता से परिस्फुट किया है उससे वह 'फाउस्ट' के कवि के सम-आसन तक आसानी से पहुँच गया है।

कामायनी

'कामायनी' के रूप में आधुनिक हिन्दी साहित्य जगत् मे प्रथम बार एक ऐसा काव्य प्रकाशित हुआ जो विश्व काव्य कहे जाने की विशिष्टता रखता है। मेरी इस उक्ति से साहित्यालोचकगण कहीं भ्रम में न पड़ जायं। मेरा कहने का तात्पर्य यह नही है कि हिन्दी मे आज तक जितनी भी कविता-पुस्तके निकली हैं वे विश्व साहित्य में स्थान पाने योग्य नही हैं। बल्कि मेरी धारणा ठीक इसके विपरीत है। मेरा यह ध्रुव विश्वास है कि हिन्दी के कुछ विशिष्ट कवियो की अनेकानेक स्फुट कविताए इतनी उच्च कोटि की हैं जो विश्व साहित्य के किसी भी युग की सर्वश्रेष्ठ कविताओं से टक्कर ले सकती हैं। पर साथ ही इस बात पर भी मैं जोर देना चाहता हू कि हमारे वर्तमान साहित्य मे अभी तक एक भी काव्य ऐसा नहीं रचा गया था जो वास्तव में विश्व काव्य कहा जा सके। विश्व काव्य से मेरा आशय ऐसे काव्य से है जो आरम्भ से अन्त तक जीवन से संबधित एक केन्द्रगत विषय पर लिखे जाने के साथ ही इस विराट् विश्व के अन्तरतम प्रदेश में निहित चिरन्तन रहस्य की चिरविकासोन्मुखी सर्जना की सघर्ष-विघर्षमय चक्रप्रगति की अभिव्यजना से सम्बन्धित हो। पाश्चात्य साहित्य में इस प्रकार के काव्यो तथा नाट्य-ग्रन्थो की कमी नही है, पर हमारे यहा अभी तक इसका अभाव अखर रहा था। प्रसाद जी की 'कामायनी' ने इस अभाव को गहन भावों की अजस्र रसधारा से भर दिया है।

हिन्दी में महाकाव्य तथा खडकाव्यों की कमी नही है, पर तुलसीदास की रामायण को छोडकर हम और किसी भी ऐसे बृहत काव्य को विश्व साहित्य के पारखियो के आगे पेश नही कर सकते थे, जिसके सम्बन्ध मे हम गर्व के साथ यह दावा कर सकते कि उसमें भी इस विश्वकुहर के इन्द्रजाल का मायावी पट कला की अतर्विदारिणी तथा मर्म-भेदिनी छुरिका से आर पार

चीर डाला गया है, अथवा उसमे निखिल को उद्भासित करने वाले अमर आलोक का निरजनाभास अपूर्व निपुणता के साथ अभिव्यजित हुआ है।

'कामायनी' की रचना मानवात्मा की उस चिरतन पुकार को लेकर हुई है जो मानव मन मे आदि काल मे जडीभूत अध तमिस्रपुज का विदारण कर जीवन के नव नव वैचित्र्यपूर्ण आलोक पथो से होते हुए अत मे चिर-अमर आनदाभास के अन्वेषण की आकाक्षा से व्याकुल है। 'काव्य में अस्पष्टता तथा रूपक रस' शीर्षक एक लेख मे मै इस बात पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाल चुका हू कि रूपकात्मक काव्यो की विशेषता क्या है, उसका यथार्थ स्वरूप कैसा होता है और उसका महत्व किस बात पर है। रूपकात्मक कथानको अथवा भावधाराओ मे कवि अपने प्राणो के स्पन्दन का सचार कर, उन्हे शाश्वत वास्तविकता का अक्षय स्वरूप प्रदान कर, उनके द्वारा अमर सत्य का आभास अत्यधिक कलात्मक रूप से प्रस्फुटित कर सकता है। मिल्टन ने 'पैरेडाइज लास्ट' मे, शेली ने 'प्रामेथ्यूज अनबाउन्ड' मे, गेटे ने 'फौस्ट' मे इसी कारण रूपकात्मक शैली का अनुसरण किया है। महाकाव्यो तथा काव्यात्मक नाटको के सम्बन्ध मे जो बात सत्य है, उच्च कोटि की स्फुट कविताओ के सबध मे भी वही बात लागू है।

पर आजकल के आलोचक यह मानने के लिए तैयार नही हैं कि कोई रूपकात्मक अथवा छायात्मक रचना कला की दृष्टि से श्रेष्ठ हो सकती है और न वे इस बात का ही समर्थन करना चाहते है कि गहन आध्यात्मिक भावों अथवा मानवात्मा सम्बन्धी रहस्यो के विश्लेषण से सम्बन्धित कोई रचना महत्वपूर्ण हो सकती है। वे व्यक्त के परे अव्यक्त का अस्तित्व किसी भी रूप मे स्वीकार करना नही चाहते, और हृदय की सत्ता को केवल उसके भौतिक रूप में मानते हैं, सूक्ष्म तथा आध्यात्मिक रूप मे नही। इसलिये हृदय के संघर्ष से पीडित मानवात्मा के अवरुद्ध गर्जन के विस्फूर्जन का तनिक भी महत्व उनके लिए नही है और न वे इस विषय पर रचे गए काव्यग्रन्थ को श्रेष्ठ कला का निदर्शन मान सकते हैं। यदि प्रसाद जी की 'कामायनी' का अविकल प्रतिरूप उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में प्रकाशित होता तो वे

विश्व साहित्य के शीर्षस्थानीय कलाकारो मे निर्विवाद रूप से स्थान पा जाते। पर 'कामायनी' १६३७ मे प्रकाशित हुई है, जब कि प्रथम महायुद्ध के बाद प्रतिक्रियात्मक विचारधारा की पंकिलता विश्व के सभी राष्ट्रों मे स्तूपीकृत हो उठी थी और उसकी सडायन भारत मे भी बुरी तरह फैली थी, और साथ ही आने वाले दूसरे महायुद्ध का पूर्व गर्जन विश्व-आकाश मे गूॅजने लगा था।

एक बात और है। अधीरता तथा अस्थिरता के इस युग में, जीवन के सब क्षेत्रो मे समय समय पर क्षणिक मनोविनोद की उत्तेजक घूॅटो द्वारा संघर्षमय वास्तविक जीवन की कटुता को भूलने की आकांक्षा पाई जाती है और लोग किसी भी विषय पर धैर्य तथा अध्यवसाय द्वारा मनन करने का कष्ट उठाने के लिए तैयार नही हैं। इसीलिये छोटी छोटी कहानियो तथा छोटी छोटी कविताओ की माग पत्र-साहित्य मे बहुत बढ रही है। ऐसी हालत मे, जब कि किसी बडी कविता को देख कर ही लोग घबरा उठते हैं, 'कामायनी' जैसे बृहत् काव्य को, जिसमे आकार की दीर्घता के साथ ही रसों तथा भावो की गहनता भी भरी पडी हो, पूर्ण अध्ययनपूर्वक पढने का कष्ट कितने आलोचक उठाने को तैयार होगे, यह प्रश्न भी विचारणीय है।

पर इन सब निराशाजनक कारणो से 'कामायनी' का महत्व न घटकर बृहत्तर तथा महत्तर रूप मे प्रकट होता है। असल बात यह है कि शताब्दी चाहे उन्नीसवी हो, चाहे बीसवी, चाहे इक्कीसवी, किसी विशेष युग की विचारधारा समुन्नत व्यापक जीवन संबधी तथा रूपकात्मक कला के लिए चाहे कैसी ही प्रतिकूल तथा प्रतिक्रियात्मक क्यो न हो, इससे उसके मर्म मे निहित महत्त्वपूर्ण सत्य पर तनिक भी आच नही आ सकती। वह सदा सूर्य की तरह ही प्रज्वल रहेगी, भले ही युग का प्रकोप उसे श्रावण के मेघो की तरह कुछ काल के लिए निबिड रूप से आच्छादित कर दे।

इतनी भूमिका लिखने का मेरा यह उद्देश्य है कि 'कामायनी' की विश्लेषणात्मक आलोचना के पहले मैं यह घोषित करने की परम आवश्यकता महसूस करता हू कि 'कामायनी' का प्रकाशन हिन्दी काव्य साहित्य के

इतिहास में कितनी महत्वपूर्ण घटना है। साथ ही यह भी दिखाना मैंने उचित समझा है कि किन प्रतिक्रियात्मक तथा प्रतिकूल परिस्थितियो मे 'कामायनी' का जन्म हुआ है, क्योकि वे परिस्थितियाँ किसी भी उच्चकोटि की कलात्मक रचना के लिये क्षय रोग के अदृश्य कीटाणुओं की तरह घातक सिद्ध हो रही हैं।

'कामायनी' के रहस्यमय, रूपकात्मक रंगमच का उद्घाटन एक वैचित्र्यपूर्ण तथा अपूर्व रोमाचकर नाटकीय वातावरण मे होता है। पौराणिक आख्यानो के अनुसार इस विश्व मे मानवीय सृष्टि के पहले दैवी सस्कृति की घोर अहम्मन्यता के दारुण रूप का प्रबल प्रकोप दिक्दिगन्तर में फैला हुआ था। निःसीम अहभाव का वह अप्रतिहत अनाचार, अनवरत आत्मतोषण की वह आकण्ठ-उच्छलित परिपूर्णता मूल प्रकृति के अनादि नियमो के प्रतिकूल है। इसलिये देवों ने आत्मविलास की चरितार्थता के लिए जिस स्वर्ण ससार का निर्माण किया था वह रुद्र के रोष से भीषण प्रलय प्रवाह में बह चला। इस निखिल-लयकारी जल-प्लावन मे मनु की नौका दुस्तर वेग का अतिक्रमण करती हुई उत्तर की ओर चली गई और अन्त में, प्लावन का प्रवेग उतार मे आने पर, हिमवान पर्वत पर आ लगी। यहा से 'कामायनी' का आख्यान प्रारम्भ होता है:

> हिम गिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह,
> एक पुरुष भीगे नयनो से देख रहा था प्रलय प्रवाह।
> नीचे जल था, ऊपर हिम था, एक तरल था एक सघन,
> एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।
> दूर दूर तक विस्तृत था हिम, स्तब्ध उसी के हृदय समान,
> नीरवता सी शिला चरण-से टकराता फिरता पवमान।
> तरुण तपस्वी सा वह बैठा, साधन करता सुरश्मशान,
> नीचे प्रलय सिन्धु लहरो का होता था सकरुण अवसान।

इस प्रकार नीचे प्रलय-जल और ऊपर दीर्घविस्तृत हिमानी की स्तब्धता के बीच, सन्नाटे में बैठा हुआ वह तरुण तपस्वी अपने विलासोन्मत्त

भूतकालिक जीवन की मोहान्धता, प्रलय-प्रवाहित वर्तमान जीवन की लोमहर्षक शून्यता तथा अन्धकारमय भावी जीवन की रहस्यमयी अनिश्चितता पर विचार कर रहा था। चिन्ता को सबोधित करते हुए वह कहता है :

ओ चिन्ता की पहली रेखा! अरी विश्ववन की व्याली!
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्प सी मतवाली!
हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल लेखा!
हरी भरी सी दौड धूप, ओ जल माया की चल रेखा!
इस ग्रह-कक्षा की हलचल री, तरल गरल की लघु लहरी!
जरा अमर जीवन की, और न कुछ सुनने वाली बहरी!
अरी व्याधि की सूत्रधारिणी, अरी आधि! मधुमय अभिशाप!

इत्यादिक पंक्तियो के एक विशेष गतिशील छन्द-प्रवाह द्वारा एक ऐसा अपूर्व वातावरण कवि हमारी अन्तरिन्द्रिय के सम्मुख उपस्थित करता है जो इस 'नाट्यात्मक' काव्य के अन्तर-रहस्य की साकेतिक सूचना प्रारम्भ से ही हमको देने लगता है।

आगे की पक्तियो से मनु का जो तत्कालीन मनोद्वेग व्यक्त होता है वह हमारी आखों के आगे एक ऐसा मायामय दृश्यपट खडा करता है जो और भी अधिक सूचनात्मक है। पक्तिया इतनी सुन्दर हैं कि नमूने के तौर पर कुछ को यहा पर उद्धृत करने का लोभ संभाला नहीं जा सकता :

मणिदीपो के अन्धकारमय अरे निराशापूर्ण भविष्य!
देवदम्भ के महामेध में सब कुछ ही बन गया हविष्य!
अरे अमरता के चमकीले पुतले! तेरे वे जयनाद—
काप रहे हैं आज प्रतिध्वनि बन कर मानो दीन विषाद।
वह उन्मत्त विलास हुआ क्या? स्वप्न रहा या छलना थी?
देव सृष्टि की सुख विभावरी ताराओं की कलना थी।
चलते थे सुरभित अचल से जीवन के मधुमय निःश्वास।
कोलाहल मे मुखरित होता देव-जाति का सुख विश्वास।
कीर्ति दीप्ति शोभा थी नचती, अरुण किरण सी चारो ओर।

सप्त सिंधु के तरल कणों में द्रुम-दल में आनन्द विभोर।
सुख, केवल सुख का वह संग्रह केन्द्रीभूत हुआ इतना,
छायापथ में नव तुषार का सघन मिलन होता जितना।
भरी वासना सरिता का वह कैसा था मदमत्त प्रवाह!
प्रलय-जलधि में संगम जिसका देख हृदय था उठा कराह।

इन पंक्तियों को हमने केवल उनकी सुन्दरता के लिये ही उद्धृत नहीं किया है। इनका महत्व इस बात पर भी है कि मनु के इस मर्मान्तिक मानसोद्गार से सृष्टि में क्रान्ति की एक निश्चित धारा का सूत्रपात हुआ और मनुष्य अपनी मनोवैज्ञानिक विषमता के जिस संघर्ष-विघर्षमय चक्र-संघूर्णन से आज प्रपीडित है उसका मूल कारण भी मनु की पूर्वोल्लिखित चिन्ताधारा ही है। अखंड ऐश्वर्य सम्भोग के अप्रतिहत आत्मोल्लास में, तरल अनल की अविरल प्रज्वलता की तरह, चिन्ता की धूम्ररेखा का लेश भी नहीं रह सकता। देवलोक में वेदना की अनुभूति अणु परिमाण में भी वर्तमान न रहने से अमिश्रित सुख का निरन्तर पुंजीभूत तुषार-संघात सृष्टि की छाती पर पाषाण भार की तरह पड़ा हुआ था। अपनी 'स्वर्ग हइते विदाय' शीर्षक कविता में रवीन्द्रनाथ ने इस निर्वेदन सुख के सम्बन्ध में कहा है:

शोकहीन
हृदिहीन सुखस्वर्गभूमि उदासीन
चेये आछे। अश्वत्थ शाखार
प्रान्त हते खसि गेले जीर्णतम पाता
जतटुकु बाजे, तार ततटुकु व्यथा
स्वर्गे नाहि जागे—जवे मोरा शतशत
गृहच्युत हतज्योति नक्षत्रेर मतो
मुहूर्ते खसिया पड़ि देवलोक हते
धरित्रीर अन्तहीन जन्ममृत्यु स्रोते।

"सुखस्वर्गभूमि शोकहीन, हृदयहीन तथा उदासीन होकर देख रही है। अश्वत्थ की शाखा से जब एक जीर्ण पत्ता भी नीचे गिरता है तो वह जितना

पीडित होता है उतनी व्यथा भी स्वर्ग मे कोई अनुभव नहीं करता—जब हम लोग ग्रहच्युत, हतज्योति नक्षत्रो के समान एक मुहूर्त्त में स्वर्ग से गिरकर धरित्री के अनन्त जन्म मृत्यु स्रोत मे बहने लगते हैं।"

इस निर्विचित्र तथा निश्चल पाषाणता के प्रति जब सृष्टि की अन्तरात्मा मे विद्रोह का अन्तर्नाद उपस्थित हुआ तो उसके फलस्वरूप मनु के हृदय से जो मर्मोद्गार निर्गत हुआ उसी ने मानवात्मा की चिरन्तन वेदनामयी अनुभूति की प्रथम सूचना दी। इस वेदना बोध से यद्यपि मानव-प्राण विध्वस्त, प्रपीडित तथा उद्वेलित है, तथापि उसकी सजल गतिशीलता पतित-पावनी जाह्नवी की निरन्तर प्रवाहित पुण्यधारा की तरह उसकी स्थूलता को क्षालित करती हुई उसके अणु अणु मे मंगलरूपी वैचित्र्य-शालिनी कविता का पुलकप्लावन हिल्लोलित करती रहती है :

नित्य समरसता का अधिकार,
उमडता कारण जलधि समान।
व्यथा से नीली लहरो बीच,
बिखरते सुख-मणिगण द्युतिमान।

इसलिये मानव-जीवन की ट्रैजेडी का कारण उसकी वेदनात्मक अनुभूति नही है। इसका मूल कारण है मनुष्य मे अवशिष्ट 'देवत्व' का संस्कार। मनु देवताओ से बिछुडने तथा मन मे उनके प्रति विद्रोह का भाव रखने पर भी अपने देव-सस्कारो को समूल उखाड नही सके थे, और देवो से एक पूर्णत: विभिन्न अर्थात् मानवीय सृष्टि की आकाक्षा मन मे रखते हुए भी आत्मविलास की स्वार्थमयी वासना का दम्भाभास उनकी आत्मा मे वर्त्तमान था। इसलिये श्रद्धा के सयोग से उनके अन्तस्तल मे सुख-दुख-मयी वेदनानुभूति का अनन्त वैचित्र्यपूर्ण पुलक प्रवाह तरगित होने पर भी वह निखिल मगलकारिणी आनन्दधारा मे निर्मुक्त वेग से, अबाध गति से अपने को प्रवाहित नही कर पाये। आत्मतृप्ति की ऐकान्तिक सकीर्णता का वासनावरोध उन्हे अपनी मानवीय प्रजा के सार्वजनिक कल्याण के प्रति उदासीन बना कर उनके भीतर केवल अपनेपन के निरन्तर-वर्धित स्वार्थ की अंध सुखाकाक्षा के सर्वभक्षी अनल को उद्दीपित करता चला गया।

एक ओर अहभाव के सकीर्ण कुण्ड का प्रज्वलित प्रदाह, दूसरी ओर निखिल विश्व मे प्रेम विस्तार की करुण वेदनाशील कामना की निर्मुक्त उडान—मनु की इन दो द्वन्द्वात्मक अनुभूतियो का सस्कार उनकी मानव-सन्तान मे भी पूर्ण मात्रा मे वर्तमान पाया जाता है।

महाकवि गेटे के विश्व-विख्यात रूपकात्मक नाट्य काव्य 'फौस्ट' की आलोचना करते हुए कार्लाइल ने एक स्थान पर फौस्ट की अशान्ति के मूल कारण का वर्णन करते हुए लिखा है: "फौस्ट समझता है कि वह ससार के अन्यान्य मानवप्राणियो के साथ होने पर भी उनमे से नही है। अर्थात् उनसे उनका कोई सबध नहीं है। दर्प तथा अनियन्त्रित (किन्तु गुप्त) आत्म-प्रेम उसके चरित्र की गति के प्रधान उत्स हैं। ज्ञान का आदर वह इसलिए करता है कि उसे वह शक्ति का मूल सूत्र मानता है, परमार्थ से वह इसलिए प्रेम करता है कि वह उसे भी एक उच्चकोटि की इन्द्रियपरायणता समझता है, और साथ ही यह अनुभव करता है कि वह उसकी 'निजी' अनुभूति है। इस प्रकार की प्रकृति का मनुष्य चाहे कही जाय, वह फिर-फिर अपने को एक आपेक्षिक जगत् मे पायेगा। वह अपनी अनुभूति के क्षेत्र को चाहे किसी परिमाण मे विस्तृत करे, किन्तु फिर-फिर वह उसे अभाव के साम्राज्य से घिरा हुआ पायेगा। उसकी मानसी सृष्टि का आनन्दोज्वल दीप फिर जीवन–निशीथ के चिर पुरातन अन्धकार राज्य का एक तुच्छतम खड सा जान पड़ेगा।"

देवत्व से छिन्न मनु की अशान्त, अधीर तथा अस्थिर मानसिकता चिरन्तन मानव की इसी व्याकुलता का रूपक है, जिसका चित्रण गेटे ने फौस्ट के चरित्र में किया है। फौस्ट की आत्मा मे देवत्व के सस्कार समधिक रूप मे वर्तमान थे और वह विश्व की सब विभूतियो को केवल अपनी अनियन्त्रित आत्मतृप्ति के साधन के रूप मे प्राप्त करना चाहता था। पर चूँकि वह देव नही, मनुष्य था, इसलिये अनेक रूपो में सुखसाधनों से भरपूर होने पर भी वह अपनी आत्मा में एक विश्वग्रासी अभाव की महाशून्यता का अनुभव किया करता था। प्रकृति ने मनुष्य को इस विराट

अभाव को भरने के लिए एक अमोघ साधन प्रदान किया है। वह है सर्वभूतो मे अपने को और अपने मे सर्वभूतो को निमज्जित करने की अनुभूति का अनुशीलन। पर मनु और फौस्ट ने, जो मानवीय प्रतिभा के विकास की प्रखरता के रूपक स्वरूप हैं, इस परम तत्व को नही समझा। मनु के परम सकट काल में उन्हे श्रद्धा मिल गई थी, जिसकी निखिल मगलकारिणी स्नेह-धारा की पावन सरसता पाकर वह जीवन के गहन वन में आलोक की सुगम पथ-रेखा देख सके थे। पर वह ऐसे मोहान्ध हो गये थे कि श्रद्धा से भी अपने ऐकातिक सुख की स्वार्थमयी साधना की सहायता चाहने लगे। श्रद्धा मनु को बार बार समझाती रही कि :

अपने मे सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा !
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, अपना नाश करेगा।
सुख को सीमित कर अपने मे केवल दुख छोडोगे।
इतर प्राणियो की पीडा लख अपना मुँह मोडोगे।
ये मुद्रित कलिया दल मे सब सौरभ बन्दी कर ले।
सरस न हो मकरंद बिन्दु से खुल कर तो ये मर ले।
सुख अपने सन्तोष के लिए सग्रह मूल नही है।
उसमे एक प्रदर्शन जिसको देखे अन्य वही है।

पर मनु की आँखे नहीं खुली। वह निखिल प्रकृति के मूल रहस्य के केन्द्र बिन्दु मे अपने को स्थिर रखकर अपनी मगलमयी प्रतिभा के पराग की सुरभि समस्त विश्व मे विकीरित करना नही चाहते थे। वह अनन्त जीवन के अनन्त वैचित्र्य का रस लोभी भ्रमर की तरह पान करके आत्मोन्नति की स्वार्थमयी सुख-साधना के उद्देश्य से निरतर आदोलित रहना चाहते थे:

स्थिर मुक्ति प्रतिष्ठा मैं वैसी चाहता नही इस जीवन की।
मैं तो अबाध-गति मरुत सदृश हू चाह रहा अपने मन की।
जो चूम चला जाता अगजग, प्रति पग मे कपन की तरंग।
वह ज्वलनशील गतिमय पतग।

टेनिसन के युलिसीज़ की तरह वह जीवन-रस की अशान्त, अतृप्त, ज्वालामयी अभिलाषा के दुरतिक्रम्य मरीचिका-पथ में आगे, आगे और आगे

बढ़े चले जाना चाहते है। यह अनन्त पिपासामयी आकांक्षा आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता की स्वार्थान्ध कर्मोन्मत्तता-जनित रक्तशोषी तृषा का उपयुक्त रूपक है। इस प्रकार की मोह लालसा का स्वाभाविक परिणाम निखिलग्रासी काल रात्रि के विकराल अधकार का आवाहन है। कार्लाइल वर्णित वही "अधकारमयी मोहनिशा का चिरपुरातन साम्राज्य" इस प्रकार की अकल्याणी दुराशा को घेरे बिना नही रह सकता। मनु भी इस घनाच्छन्न तामसिकता की भयकरता का अनुभव किए बिना नही रह पाते:

जीवन निशीथ के अन्धकार!
तू घूम रहा अभिलाषा के नवज्वलन धूम सा दुर्निवार
जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी सी उठती पुकार
यौवन मधुवन की कालिन्दी बह रही चूम कर सब दिगन्त
मन - शिशु की क्रीडा-नौकाएं बस दौड लगाती हैं अनत
कुहुकिनि, अपलक दृग के अजन! हँसती तुझ मे सुन्दर छलना
धूमिल रेखाओ से सजीव चचल चित्रो की नव कलना
इस चिर-प्रवास श्यामल पथ मे छाई पिक प्राणो की पुकार
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार।

श्रद्धा—कल्याणीया कामायनी—की अनन्त करुणामयी, अविरल स्नेह-रसमयी, विपुल मगल-अभिषेकमयी, स्निग्ध शान्तिमयी प्रीति के सलज तथा सजल उपहार को ठुकराकर जब मनु उच्छृङ्खल तथा उद्दाम आकांक्षा की मोह तरग मे बहने लगे तो अपनी मानव-प्रजा-सृष्टि के लिए उन्होने चिरकालीन अभिशाप प्राप्त किया। इस अज्ञात तथा रहस्यमय अभिशाप के पीड़न का अनुभव मानवजाति क्या प्राचीनतम युग से वर्त्तमान समय तक नहीं करती आई है? नाना द्वन्द्व, सघर्ष, विशृंखला, असामजस्य, वैमनस्य तथा विरोध के चक्रजाल से मानव-ससार ऐसे जकडा हुआ है कि यहा सभलता है तो वहा उलझता है। मिल्टन ने भी अपने 'पैरेडाइज लास्ट' में आदम और हौवा के लालसासक्ति-जनित पतन से सारे मानव-समाज पर जो अभिशाप आरोपित करवाया है उसका भी मूल कारण आदि मानव-प्रकृति की मोहान्धता ही है।

इस अभिशाप के वज्रकोप से जब मनु स्तब्ध तथा विभ्रांत अवस्था में निश्चल बैठे रहे तो अकस्मात एक ज्योतिर्मयी प्रतिमा की हेमवती छाया उनकी आखो के आगे भासमान हुई। निखिलव्यापी तमोजाल की जडता मे अरुण किरणों की कलित काति से चैतन्य का स्फुरण करने वाली यह संजीवित प्रतिमा थी इडा, जो मूर्तिमती बुद्धि थी। श्रद्धा के विसर्जन के साथ ही सरल मधुर विश्वास, सरस प्रेम तथा शुचि-स्निग्ध समवेदना के भावों को तिलाजलि देकर मनु इड़ा के बुद्धि-वैभव को पूर्णतया अपनाकर विज्ञान की अशेष कर्ममयी, विपुल चक्रमयी, प्रचण्ड सघूर्णमयी ज्वाला को गले की माला बनाकर, उनकी लपटो को दिग्विदिक् विकीरित करने के महासमारोह में अत्यन्त उल्लासपूर्वक लग गये! विज्ञान प्रणोदित यह सर्वशोषी, अतृप्त कर्मतृष्णा की आग जहा एक ओर आत्मप्रसूत भस्मराशि को स्तूपीकृति करके जड जगत के भौतिक वैभव का निर्माण करती है, वहा मानव-जगत् की मगलमयी पुण्य पीयूषधारा का स्रोत एकदम सुखा देती है। मनु के जीवन में इस ज्वाला का वही स्वाभाविक परिणाम सिद्ध होकर रहा।

पौराणिक आख्यान में इडा को मनु की यज्ञ-जनित दुहिता कहा गया है। रूपक की दृष्टि से इडा—अर्थात् बुद्धि—मनुष्य की आत्मज विभूति है, जिसकी उत्पत्ति उसकी चिर जिज्ञासु मनोवृत्ति की अज्ञात अन्तर्साधना द्वारा हुई है। यदि इस परम शक्तिशालिनी विभूति को निःस्वार्थ तथा अनासक्त भाव से अपनाकर, हृदय के सरस तथा समवेदनशील भावो के संयोग से अभिषिक्त करके सुसचालित किया जाय तो उससे सर्वभूतो की विपुल हितसाधना हो सकती है और साथ ही मानव-समाज मे सघर्ष की दुर्धर्षता के बदले सामजस्य की स्निग्ध शाति का सुन्दर सचार हो सकता है। पर सभ्य मानव ने वैज्ञानिक बुद्धि को घोर स्वार्थ तथा संसक्ति के साथ अपनाकर, अपनी इस मानवप्रसूत आत्मजा के साथ मानो अत्यन्त जघन्यतापूर्वक व्यभिचार—बल्कि बलात्कार—किया है, और हृदय की कोमल-कमनीय वृत्तियो के सुमधुर विश्वास-परायण समवेदनात्मक भावो को पैरो तले कुचल डाला है। यह ठीक उसी तरह हुआ है जिस प्रकार मनु ने श्रद्धा-विश्वास-

रूपिणी, मंगल-मधु-धारा-वर्षिणी कामायनी की अवज्ञा करके उन्मत्त लालसा-प्रज्वालिनी, अशेष-कर्म-चक्रिणी, अनत अतृप्ति-प्रदायिनी बुद्धिरूपिणी इडा को अपने कर्मयज्ञ की प्रधान पुरोहित बनाकर अत मे उसके साथ बलात्कार किया।

यह बलात्कार स्वार्थसुखान्वेषी मनु की आसक्ति की पराकाष्ठा थी। इसके फलस्वरूप मनु के आत्मसृष्ट प्रजातन्त्र मे विद्रोह की दावाग्नि का भड़कना स्वाभाविक था। पर मनु इस विद्रोह से तनिक भी वित्रस्त न हुए। उनकी अधिकारोन्मत्त उच्छृङ्खलता इस हद तक बढ गई थी कि वह अपने अत्याचारो की दुर्धर्षता को सहज स्वाभाविकता समझ रहे थे। वह सोच रहे थे कि उन्होने अपनी प्रजा को समुचित विधि-विधान तथा नियमानुशासन के बधन मे बाधकर और यथोचित वर्णविभाग मे विभक्त करके अपना कर्तव्य पूरा कर लिया है, पर वे नियम स्वय उनके लिए लागू नही हो सकते, क्योकि वह 'डिक्टेटर' हैं, और उच्छृङ्खलता की आनन्द तरगो मे निर्मुक्त गति से बहने के पूरे अधिकारी हैं:

जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूं मैं?
क्या अधिकार नही कभी अविनीत रहू मैं?
विश्व एक बन्धनविहीन परिवर्तन तो है,
इसकी गति में रवि शशि तारे ये सब जो हैं—
रूप बदलते रहते, वसुधा जलनिधि बनती,
उदधि बना मरुभूमि जलधि मे ज्वाला जलती!
तरल अग्नि की दौड़ लगी है सबके भीतर,
गल कर बहते हिम-नग सरिता लीला रच कर।
जीवन मे अभिशाप, शाप में ताप भरा है,
इस विनाश मे सृष्टि कुंज हो रहा हरा है।
मैं चिर बन्धनहीन मृत्यु सीमा उल्लंघन
करता सतत चलूँगा यह मेरा है दृढ़ प्रण।
महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना,
चेतनता की तुष्टि वही है, फिर सब सपना।

इस प्रकार सारा आख्यान आधुनिक बुद्धिवादी सभ्यता के कुटिल चक्र के अत्यन्त सुन्दर रूपक के रूप मे हमारे सामने आता है। यद्यपि यह कवि का गौण उद्देश्य है, क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य तो मानव जाति की चिरन्तन सवर्ष-विघर्षमयी वेदना की मूल भावधारा का परिप्लावित प्रवाह प्रदर्शित करके उसे शाश्वत मगल की ओर प्रेरित करना है। कोरी बुद्धि द्वारा प्रसूत वर्तमान जडवादात्मक विज्ञान ने मानव समाज को शतधा विच्छिन्न तथा विभक्त करके उसमे नाना सघर्षों तथा द्वन्द्वो की अशान्ति उत्पन्न कर दी है। प्रभुत्ववादियो की इस भयकर वैज्ञानिक मनोवृत्ति ने साधारण जनसमूह मे विद्रोह के भाव भर दिए हैं, पर नियमानुशासन चलानेवाले उच्छृङ्खल विश्वनेतागण स्वय किसी नियम का नियन्त्रण मानने को तैयार न होकर चारों ओर दमन, अत्याचार तथा रक्तपात का चक्र चला रहे हैं।

इस अन्तरराष्ट्रीय अशाति तथा विश्वव्यापी भूल भ्राति के दूरीकरण का केवल एक ही सच्चा उपाय है—बुद्धि और श्रद्धा का सुमंगल सहयोग। केवल-मात्र हृदय के करुण-कोमल समवेदनात्मक तथा श्रद्धा-विश्वासपूर्ण भावो से विश्व का चिर प्रगतिशील चक्र सचालित तथा नियमित नहीं हो सकता, और न कोरी बुद्धि की अनवरुद्ध तथा अनियन्त्रित वेगशीलता ही विश्व में स्थायी कल्याण की प्रतिष्ठा करने में समर्थ होती है। 'कामायनी' के कवि का केन्द्रगत सन्देश यही है। यह सन्देश श्रद्धा के निम्न मर्मोद्गार द्वारा भलीभाति प्रकट होता है, जिसे उसने अपने प्रिय पुत्र को मनु से विच्छिन्न, भ्रान्ति से विक्षुब्ध इडा के हाथो सौपते हुए व्यक्त किया था:

हे सौम्य! इडा का शुचि दुलार, हर लेगा तेरा व्यथा भार;
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब सताप-निचय हर ले, हो मानव-भाग्य उदय;
सब की समरसता का प्रचार, मेरे सुत! सुन मा की पुकार।

अपने इस अन्तिम त्यागमय महान सन्देश के बाद कामायनी दोनों को छोडकर चली जाती है। काव्य की वास्तविक समाप्ति यही पर हो जानी चाहिए थी, क्योंकि उसकी नाट्यात्मक अभिव्यक्ति इस स्थान पर पराकाष्ठा

को प्राप्त हो जाती है। यहा पर अन्तिम यवनिका पड जाने से काव्य के नाटकीय अन्त का चरम सौदर्य प्रस्फुटित हो उठता।. पर कवि को शायद नाटकीय सौन्दर्य की अपेक्षा पूर्णानन्दमयी मागलिक परिणति दिखाना अधिक अभीष्ट था, इसलिये उसने श्रद्धा, इडा, मनु तथा मानव—चारो का मिलन पुण्य प्रशान्त मानस-प्रदेश मे सघटित कराके समरसता के स्निग्ध-मधुर आनन्द की पीयूषवर्षा मे सबको अभिषिक्त किया है।

सारे काव्य को आदि से अन्त तक मननपूर्वक पढ जाने पर यह धारणा बद्धमूल हो जाती है कि सारी रचना एक महान् आदर्श के मूल भाव से ओत-प्रोत है। शाश्वत सत्य की चिर-पुरातन धारा के आधार पर कवि ने एक ऐसे सुन्दर रूपक का निर्माण अत्यन्त मनोरम रूप से किया है जो आधुनिक सभ्यता की सघर्षमयी विषमता और वर्तमान ससार के प्रभुत्ववादी युग में फैली हुई विद्रोहात्मक अशाति के भीषण चक्रजाल का यथार्थ निदर्शन कराता है और साथ ही हमे इस सर्वनाशी विषमता के परे उठाकर समरसता के पुण्य प्रकाश का अमरपथ प्रदर्शित कराता है।

यदि आदर्श पर विचार न कर कोरी कला की दृष्टि से हम इस रचना को देखे तो भी उसकी श्रेष्ठता मे कुछ अन्तर नही पडता। प्रसाद जी इस काव्य में प्रारम्भ से अन्त तक सर्वत्र अपने उन्नततम तथा चरम रूप मे प्रकट हुए हैं। भाव, भाषा तथा छन्द-सगीत की अपूर्व मनोरमता, नाटकीय निपुणता-तथा सुसयत सामजस्य के सम्मिलित चमत्कार ने 'कामायनी' मे जादू की माया का सा प्रभाव दिखाया है। प्रसाद जी की अन्य सब कृतिया यदि किसी कारण से विलीन हो जाय (भगवान न करे कभी ऐसा हो) और केवल 'कामायनी' शेष रह जाय तो भी वह चिरकाल तक हिन्दी जगत में—बल्कि विश्व साहित्य ससार मे—अमर होकर रहेगे, यह बात बिना किसी द्विविधा के कही जा सकती है।

प्रसादजी का कथा-साहित्य और 'कंकाल'

प्रसाद जी यद्यपि प्रधानतः कवि थे, तथापि उन्होंने साहित्य के किसी भी अग को नही छोडा। काव्य, नाटक, उपन्यास, छोटी कहानियाँ, साहित्यिक निबन्ध आदि सभी विषयो में उन्होने अपनी कुशलता का परिचय दिया है।

फिर भी कथात्मक साहित्य मे उन्हे उपन्यासो की अपेक्षा छोटी कहानियों मे अधिक सफलता मिली है। प्रसाद जी प्रधानतः कवि थे, इसलिए अपनी जिन रचनाओं मे वे काव्यात्मक भावना अधिक परिस्फुट करने की ओर प्रयत्नशील रहे है उनमे एक अपूर्व मोहक सुन्दरता भरने मे सफल हुए हैं, और जिनमे वह जीवन के यथार्थ की ओर अधिक झुके है उनमे उन्हे उतनी सफलता नही मिल पायी। छोटी कहानियो मे वे अधिकतर विविध पात्रो के चरित्र-चित्रण द्वारा काव्यात्मक वेदना के प्रस्फुटन की ओर ही प्रवृत्त रहे हैं। पर उपन्यासो मे, विशेषकर 'ककाल' में, उनका ध्यान रोग-शोक, दुख-दैन्य और पाप-ताप से पीडित मानव-प्राणियो के सघर्षमय और कटु यथार्थ से क्लिष्ट जीवन के चित्रण की ओर अधिक रहा है। अतएव इस उपन्यास मे एक ओर उनके कवि को कुठित हो जाना पडा है और दूसरी ओर उनकी यथार्थवादिता [illegible] रूप से अभिव्यक्त नहीं हो पायी है। तथापि इन उपन्यासो का अपना निजी महत्त्व है।

'ककाल' हिन्दी साहित्य मे अपने ढग का अकेला उपन्यास है। एक-दो को छोड कर इसके सभी पात्र और पात्रियाँ जारज सतान है, और फलतः समाज द्वारा निष्कासित, बहिष्कृत और प्रताड़ित हैं। इसमे कोई एक विशेष नायक या कोई विशेष नायिका नही है। कभी पात्र-पात्रियों का एक विशेष जोडा नायक-नायिका के रूप मे हमारे सामने आता है, कभी दूसरा। इस प्रकार के कई जोड़े बीच-बीच में आविर्भूत होकर बारी-बारी

से प्रधान अभिनय करते चले जाते है। ये विभिन्न जोड़े बीच-बीच में एक-दूसरे के घनिष्ठ सपर्क मे भी आते रहते हैं और फिर लबे अरसे के लिए बिछुड कर, कुछ दैनिक घटना-चक्रों के फलस्वरूप नयी और विचित्र परिस्थितियों में एक-दूसरे से मिल जाते हैं।

दैवी या सयोगिक घटना-चक्रो से सारा उपन्यास भरा पड़ा है। उपन्यास का प्रारभ ही इसी प्रकार की एक संयोगिक घटना से होता है। प्रयाग में माघी अमावस्या के अवसर पर अमृतसर से आये हुए दो स्नानार्थी, श्रीचद और उनकी पत्नी किशोरी, गङ्गा के तट पर झूँसी मे एक महात्मा के दर्शन करने गये। वह 'महात्मा' सयोग से किशोरी का बाल्यसाथी निकल आया। उसका नाम देवनिरजन था। जब किशोरी ने उसे अपना नाम बताया तो उसे यह सदेह हो गया कि वह वही किशोरी है जिससे आठ वर्ष की अवस्था मे बिछुडने के बाद वह पहली बार आज, अप्रत्याशित रूप से, गगा-यमुना के सगम पर मिला है। किशोरी उसे अभी नहीं पहचान पायी थी। देवनिरजन के मन मे द्वन्द्व उठा और वह उसी दिन प्रयाग से हरिद्वार चला गया।

किशोरी उस महात्मा से अत्यत प्रभावित हो चुकी थी इसलिए उसने अपने पति श्रीचन्द को हरिद्वार चलने के लिए राजी किया। वहाँ निरजन इन्हें मिल गया।

श्रीचन्द अपने व्यवसाय के काम से अमृतसर लौट गये और किशोरी को नौकर के साथ हरिद्वार ही छोड गये। किशोरी को पता लग गया कि महात्मा उसका बाल्यकाल का साथी निरजन है। दोनो मे घनिष्ठता हो गयी। नौकर के बार-बार पत्र लिखने पर कई महीने बाद किशोरी के पति श्रीचन्द हरिद्वार आये। किशोरी विवशता से निरजन का साथ छोडने को तैयार हुई। तब तक वह गर्भवती हो चुकी थी, अर्थात् एक जारज सतान को जन्म देने की तैयारी कर रही थी।

हरिद्वार में उनका परिचय एक स्त्री से हुआ जिसने विधवा होने पर भी तारा नाम की एक लड़की को जन्म दिया था। लड़की जब पन्द्रह वर्ष

की हुई तो वह भीड मे खो गयी। तारा को कोई एक दूसरी स्त्री भगा ले गयी।

ये सब घटनाएँ पहले ही परिच्छेद के अतर्गत वर्णित हैं। इसके बाद दूसरे परिच्छेदो में भी पहले परिच्छेद की ही तरह उपन्यासकार घटना पर घटना का वर्णन करता चला जाता है और नयी-नयी परिस्थितियो में नये-नये पात्र-पात्रियो की अवतारणा करता चला जाता है। ये सब नये पात्र-पात्रियाँ जारज सताने या पथ-भ्रष्टा स्त्रियाँ होती हैं।

प्रसाद जी ने अपने इस उपन्यास मे मनोभावो के चित्रण की ओर ध्यान नहीं दिया है। विविध पात्रो और पात्रियो के अतर्द्वन्द्वो के विश्लेषण की उन्होने पूर्ण उपेक्षा की है। केवल दैवी घटनाचक्रो, और सयोगो को अपना आधार बनाते हुए वे कहानी को आगे बढाते रहे हैं। पात्र-पात्रियो के बीच कथनोपकथन उनकी ऊपरी मनोभावनाओ को समझने मे थोडी-बहुत सहायता अवश्य पहुँचाता है, पर उनके भीतरी मनोभावो की तीव्रता, उनके भीतर उठने वाले तूफानो और विद्रोही भावनाओं का तनिक भी आभास देने का प्रयास प्रसादजी ने नही किया है। जो पात्र उन्होंने चुने हैं उनके भीतर भीषण अतर्द्वन्द्वो का चक्र चलना और भयकर आँधियो का उठना अत्यत स्वाभाविक हैं, और कोई भी प्रतिभाशाली लेखक इस सुयोग को यों ही नहीं जाने देना चाहेगा। प्रसाद जी ने अपने लिए इस सुयोग के उपकरण तो जुटाये, पर उसका पूरा उपयोग करने से उन्होंने अपना हाथ खीच लिया। यह इसलिए नही कि उनमे मानव मन के उन तूफानी चक्रों के वर्णन और विश्लेषण की समर्थता नहीं थी। उनमे समर्थता थी और बहुत बडी योग्यता थी। जो कवि 'कामायनी' में मनु के भीषण अतर्द्वन्द्वों के चित्रण मे आश्चर्यजनक रूपसे सफल रहा है उसकी अतर्भाव-विश्लेषिणी प्रतिभा पर सदेह नही किया जा सकता। फिर भी आश्चर्य ही है कि 'कंकाल' का कोई भी पात्र उन्हे मनोविश्लेषण के योग्य नही जँचा, कोई भी परिस्थिति गभीर वातावरण उत्पन्न करने योग्य नहीं मालूम हुई।

इसका एक कारण शायद यह है कि मनु के अतिमानुषी भावोद्वेलन में और 'ककाल' के अतिसाधारण—और अप-साधारण—पात्र-पात्रियो के

तूफानी आवेगों के हलूरों में जमीन आसमान का अंतर है। साधारण जीवन के संघर्ष से पीडित पात्र-पात्रियो के भाव-चक्रो के विश्लेषण की कला का क्षेत्र कुछ दूसरा ही है, जिसकी ओर आधुनिक भारतीय महाकवियो का झुकाव बहुत कम पाया जाता है। पाश्चात्य महाकवि इस कला मे केवल दक्ष ही नहीं रहे हैं, बल्कि उसके महत्त्व को भी वे भली-भाँति महसूस करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, फ्रांसीसी महाकवि विक्तर हूगो को ही लीजिये। हूगो का क्षेत्र यद्यपि प्रधानत: काव्य था, तथापि उसने कई उपन्यास भी लिखे हैं, जो विश्वविख्यात हो चुके है। उनमे 'ले मिजेराब्ल' सबसे अधिक प्रसिद्धिप्राप्त है। इस उपन्यास मे हूगो ने समाज के उन्ही दलित, अभिशप्त और अभागे पात्रो को लिया है, जिनके प्रति 'ककाल' मे प्रसादजी ने अपनी समवेदना का परिचय दिया है। पर हूगो ने केवल घटना-चक्रो के वर्णनो तथा वार्तालाप तक ही अपने को सीमित नही रखा है, बल्कि प्रत्येक पात्र के मानसिक संघर्ष का चित्रण परिपूर्ण मनोविश्लेषण के साथ किया है। हूगो जानता था कि अतर्जीवन के विश्लेषणात्मक प्रस्फुटन के बिना बाह्य जीवन की परिस्थितियाँ कोई स्थायी प्रभाव उत्पन्न नही कर सकती।

ऐसा लगता है कि 'ककाल' लिखते समय प्रसाद जी का उद्देश्य पाठको के मन में भावनात्मक वेदना जगाने का उतना नही था जितना समाज के लिए एक विद्रोहात्मक वातावरण द्वारा आदर्शात्मक संदर्भ उपस्थित करने का। इस उपन्यास मे उनकी सबसे बडी विशेषता यह रही है कि उन्होंने उस समय एक प्रगतिशील दृष्टिकोण को अपनाया जब हिन्दी में केवल धीरोदात्त नायक को ही उपन्यास का नायक और सती-साध्वी स्त्रियो को ही नायिका निरूपित करने का रिवाज था। प्रसादजी ने न तो कोई धीरोदात्त नायक चुना, न कोई सती-साध्वी नायिका। चट्टान की तरह दृढ-चरित्र और आदर्शवादी पात्रो की भी उन्होने उपेक्षा की। उन्होने केवल ऐसे पात्र-पात्रियो को चुना जो केवल समाज से बहिष्कृत व्यक्तियो की ही जारज-संतान नहीं थे, बल्कि जो सद्भावना-पूर्ण होने पर भी बहुत दुर्बल और ढुलमुल स्वभाव के थे।

जैसा कि मै पहले निर्देशित कर चुका हू, 'ककाल' के अधिकाश पात्र तथा पात्रियाँ जारज• है। उपन्यासकार कुछ विचित्र और संयोगिक परिस्थितियाँ उत्पन्न करके उन सब जार-पुत्रों और जार-पुत्रियों को एक-दूसरे के निकट लाता रहा है। वे सब सघर्ष-पीडित अवस्था मे भटकते रहते है, पर फिर बीच-बीच मे एक दूसरे के घनिष्ठ सम्पर्क मे आ जाते है। उनमे से अधिकाश एक-दूसरे के प्रति समवेदनाशील है, पर मानसिक तथा पार्थिव परिस्थितियो के कारण पगु, शक्तिहीन और विवश हे। उनमें केवल दो पात्रो को छोड कर शेष अपनी समाज-कृत दुरावस्था के सम्बन्ध मे अचेत हैं। अपने भाग्य पर रोते रहने के सिवा वे अपने उद्धार का कोई मार्ग नही सोच पाते और न कोई विद्रोह की भावना ही उनके भीतर जग पायी है।

इसका यह अर्थ नही कि लेखक का उद्देश्य इन अभागो में नयी चेतना जगाना नही है। वास्तविकता तो यह है कि लेखक का मूल उद्देश्य ही उन अभिशप्तों में आत्म-चेतना जागरित करना है। 'ककाल' का महत्त्व यही पर है। जैसा कि पहले निर्देशित किया जा चुका है, इस उपन्यास के कई नायक हैं। उनमे एक मगलदेव नामक नायक सामाजिक सघर्ष के विविध कटु अनुभवो के बाद एक पाठशाला खोलता है, जिसमें दलितो और पतितो के बच्चे शिक्षा पाते हैं और अपनी जन्म-जात लघुता की भावना को त्यागने मे सहायता प्राप्त करते है। एक दूसरे नायक निरजन के प्रयत्नो से भारत-सघ नामक एक सस्था की स्थापना होती है। उससे सम्बन्धित विज्ञापन के जो पर्चे वृदावन की गलियो मे चिपकाये जाते हैं, उनमे से एक मे यह लिखा हुआ पाया जाता है :

"भारत-सघ वर्त्तमान कष्ट के दिनो मे श्रेणीवाद, धार्मिक पवित्रतावाद, आभिजात्यवाद इत्यादि अनेक रूपो मे फैले हुए सब देशो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के जातिवाद की अत्यत उपेक्षा करता है। श्रीराम ने शबरी का आतिथ्य स्वीकार किया था, श्रीकृष्ण ने दासी-पुत्र विदुर का आतिथ्य ग्रहण किया था, बुद्धदेव ने वेश्या के निमत्रण की रक्षा की थी। इन घटनाओं को स्मरण

रखता हुआ भारत-सघ मानवता के नाम पर सबको गले लगाता है। धर्म और नीति मे शिथिल हिन्दुओ का समाज-शासन कठोर हो चला है, क्योकि दुर्बल स्त्रियो पर ही शक्ति का उपयोग करने की उसके पास क्षमता बच रही है ."

इस प्रकार 'ककाल' ने ककाल मे परिणत मरणोन्मुख समाज के कानो मे दलितो के उद्धार का मत्र फूका है। पर उस मन्त्र का तेजस्वी स्वर शीघ्र ही शिथिल पड जाता है। कारण यह है कि भारत-सघ विरोध-वाणी का प्रचार तो करता है, पर विद्रोह-वाणी घोषित कर सकने का साहस उसमे नही है। उनके सचालक इतने दुर्बल और निःसत्त्व प्राणी है कि समाज सुधार की ओर उन्मुख होने पर भी वे समाज-सघर्ष से बचना चाहते हैं। सघ के प्रधान सचालक निरजन अपने एक भाषण मे कहते है—"हम अपने कर्तव्य को देखते हुए समाज की उन्नति करे, परन्तु सघर्ष को बचाते हुए। × × × बहुत से लोगों का यह विचार है कि सुधार और उन्नति में संघर्ष अनिवार्य है, परन्तु सघर्ष से बचने का एक उपाय है, वह है—आत्म निरीक्षण. .."

इस कच्ची नीव पर सघ-स्थापना का फल यह होता है कि सघ-शासन शीघ्र शिथिल पड जाता है। मगलदेव, जो इस सघ की सेवा का व्रत लिये हुए था, एक अनाथा स्त्री को धोखा देकर एक दूसरी स्त्री से विवाह कर लेता है। निरजन बहत्तर चूहे खाने के बाद हज करने को चल देता है—जिस विवाहिता स्त्री से वह इतने वर्षों तक अवैध संबन्ध स्थापित किये हुए था और जिससे संतान भी उत्पन्न कर सका था—उसे त्याग कर फिर एक बार एकात मे वैराग्य साधना के उद्देश्य से निकल पड़ता है। जाते हुए वह अपनी प्रेमिका के लिए एक पत्र छोड जाता है, जिसमे कहता है—"मैं तो स्वयं शंका करने लगा हूँ कि अनिच्छापूर्वक भी भारत-सघ की स्थापना में सहायक हो कर मैंने क्या किया—पुण्य या पाप? प्राचीन काल के इतने बड़े-बड़े सगठनों मे जडता की दुर्बलता घूम गयी? फिर यह प्रयास कितने बल पर है?—वाहरे मनुष्य! तेरे विचार कितने निस्संबल हैं!'

लेखक ने अपने समाज-बहिष्कृत, संघर्ष पीडित, छिन्नाधार पात्र-पात्रियों में स्वस्थ-चेतना का जो दीपक जलाने का प्रयत्न किया वह जलने-न-जलते बुझ जाता है। शेष रह जाता है केवल अनिश्चित अन्धकार।

पर कुल मिला कर 'कंकाल' की विशेषता अन्त तक अक्षुण्ण रहती है। वह विशेषता यही है कि प्रसाद ने साहस पूर्वक हिन्दी के उपन्यास-जगत् में पहली बार ऐसे अनेक नायक-नायिकाओं—पात्र-पात्रियों—की अवतारणा की जिनका जन्म ही समाज-निषिद्ध था और जिनके जीवन-संघर्ष का क्रम भी सामाजिक दृष्टि से दुर्बलताओं से भरा हुआ था। प्रेमचन्द जी के कृत्रिम आदर्शवादी नायक-नायिकाओं की अपेक्षा वे अधिक सजीव और जीवन के अधिक निकट हैं।

प्रेमचंदजी की कला का मूल तत्त्व

प्रेमचद जी की कला के सबध मे भिन्न-भिन्न आलोचकों ने तरह तरह की बाते कही है। मै इनमे से अधिकाश आलोचको की सम्मतियो से सहमत नही हूँ। प्रेमचदजी के स्वपक्षी और विपक्षी आलोचको की सख्या बहुत है। मै इन दोनो मे से कुछ भी नही हूँ। उनके असाधारण गुणों का कायल मै उनके स्वपक्षी लोगो से भी अधिक परिमाण मे हूँ, पर कला-सबधी कई मूल बातो के सबध मे उनसे मेरा मतभेद रहा है और सदा रहेगा। विचार-स्वातन्त्र्य का मूल्य जो लोग समझते हैं वे मुझे दोष नही देगे।

विश्व की इस अनत सृष्टि मे जो-जो शक्तियाँ काम कर रही हैं वे मुख्यतः दो भागो मे बाँटी जा सकती हैं—एक पुरुष-शक्ति और दूसरी नारी-शक्ति। प्रेमचद जी की रचनाएँ पुरुष-प्रधान है। उनकी कला का असाधारण पौरुष अपनी अदम्य तीव्रता से पाठक-समाज को चकित कर देता है। यह पौरुष-भाव अत्यंत सुन्दर है। इसकी शान निराली है। अनत सृष्टि की मूल सत्ता के पीछे जो एक अदम्य छाया बीच-बीच मे चपला की चचल चमक और झिलमिली झलक आँखो मे झलका जाती है सनातन पुरुष चिरकाल से उसी के पीछे पागल होकर निरन्तर प्रगति की ओर बढ़ता ही चला जाता है। उसे वह पकड नही पाता पर उसका पीछा भी नहीं छोड़ सकता। राष्ट्र, मानवत्व, विश्व-विजय, विश्व-मैत्री-सगठन, गरज यह कि सभ्यता तथा सस्कृति की जो विभिन्न छायात्मक आदर्श-धाराएँ हैं सनातन पुरुष जानकर या अनजान उन्हीं के पीछे-पीछे भटकता फिरता है। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषत् मे पुरुष को छायामय कहा गया है। वर्त्तमान युग में विज्ञान की जो असाधारण ध्वसात्मक उन्नति हुई है, उसका भी यही कारण है कि मूल सत्ता के अन्तराल मे छायात्मक शक्तियाँ काम कर रही हैं। पुरुष उन्हे अपने वश में करना चाहता है। पुरुष की प्रवृत्ति सदा केन्द्रातिग

रही है। विज्ञान भी अपने विश्लेषण और संश्लेषण द्वारा सृष्टि के प्रयोजन के मूल केन्द्र से च्युत होकर लक्ष्यहीन अवस्था में निरुद्देश्य भटकता फिर रहा है। पर कला की प्रवृत्ति केन्द्रोन्मुख (centripetal) है। विज्ञान पुरुष है और कला नारी। नारी मूल सत्ता के केन्द्र को अनतकाल से जकड़े है। उसकी प्रकृति सत्तात्मक (concrete) है। पर पुरुष-प्रकृति छायात्मक (abstract) है। कला प्रकृति के समस्त सुन्दर छायात्मक भावों को भी अपने माध्याकर्षण के बल से अपनी ओर खींचकर उन्हे मूल सत्ता की ओर केन्द्रीभूत करने की चेष्टा में लगी रहती है। वह कवि के कथनानुसार—

Gives to airy nothing
A local habitation and a name.

अर्थात् वह एक हवाई कल्पना को भी नाम और रूप की निश्चित सीमा-रेखाओं मे बॉध लेती है। पर विज्ञान ठीक इसके विपरीत चलता है।

प्रेमचंद जी ने पुरुष-प्रवृत्ति के रहस्य का परिचय अवश्य प्राप्त किया है, पर मूल प्रकृति जो नारी है उसकी आत्मा के भीतर उन्होंने गहरी दृष्टि नहीं डाली है। राष्ट्र-विजय की वीरता घोषित करने वाली दुंदुभी प्रेमचद जी ने बजाई है। वीर राजपूत योद्धाओं की कहानियों से वह सदा प्रणोदित हुए हैं। प्रबल अध्यवसाय और पौरुष द्वारा समस्त विरोधी शक्तियों की अवज्ञा करके वीरत्व की अक्षय कीर्ति प्राप्त करने का मत्र उन्होंने पाठकों के कानो मे सदा ध्वनित किया है। अस्त्र-शस्त्र की झनकार और दगे-हमले के बीच में अपने नायकों को खड़ा कराने में उन्हे विशेष सुख प्राप्त हुआ है। उनके नायक अनेक दुर्बलताओं का सामना करते हुए भी किसी अनिश्चित, छायात्मक आदर्श के पीछे मर मिटते हैं। कोई राष्ट्रीयता के पीछे पागल होता है, तो किसी को नैतिक निष्ठा की धुन होती है। अपने इन चरित्रों का चित्रण प्रेमचद जी ने सुन्दर रूप से किया है, और जो भाव उन्होंने व्यक्त करना चाहा है, उसके निदर्शन में वह पूर्ण सफल रहे हैं। यह बात मैं कई बार स्वीकार कर चुका हूँ। विश्व के वाह्यचक्र के मैदान मे उनके पुरुष-पात्र अनत कीर्ति के लिये लड़ते चले जाते हैं, यह

भाव अत्यन सुन्दर है। पर इस चक्र के भीतर उसके अतरतम के किसी कोने मे जो अत्यत सुकुमार भाव दबे पडे हैं और बाहर न निकल सकने के कारण बिलखते, रोते हुए सृष्टि की मूलात्मा को विदीर्ण कर रहे हैं, उन्हें प्रेमचद जी ने छुआ तक नही।

वृहदारण्यक उपनिषत् मे एक वाक्य है, जिसका भावार्थ यह है जब ब्रह्म ने अपने को दो भागो मे विभक्त किया तो समस्त आकाश मे नारीत्व का भाव व्याप्त हो गया। सृष्टि के मूल मे यह जो सनातन नारी है उसके प्रति प्रेमचद जी ने अवज्ञा प्रदर्शित की है। समस्त श्रेष्ठ कलाविदो ने नारीत्व के इस शाश्वत भाव को अपनाया है। असल बात यह है कि कला मुख्यतः इसी एक भाव के आधार पर प्रतिष्ठित है। इसीलिये प्रत्येक कलाविद् का मुख्य ध्येय यही भाव प्रदर्शित करने का रहा है। जब हम रामायण पढ़ते हैं तो हमारा ध्यान समस्त पाठ मे सीता के प्रति केन्द्रीभूत होकर रह जाता है। रामायण की असली कथा सीता-हरण से प्रारभ होती है। इस घटना के बाद हम राम की विविध कारखाइयो का अनुसरण विशेषतः इस दृष्टि से करते हैं कि वह दुःखिनी सीता के उद्धार के लिये क्या-क्या उपाय काम मे लाते हैं। राम ने रावण को मारा, इस घटना का वर्णन पढ़ कर हमें राम के वीरत्व का परिचय पाने से उतनी प्रसन्नता नही होती जितनी इस बात से कि सीता को मुक्ति मिली। रामायण मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अश सीता-वनवास तथा सीता के पाताल-प्रवेश से सबध रखने वाले हैं। उसी प्रकार महाभारत की सारी कथा का भारकेन्द्र द्रौपदी का चीर-हरण-उपाख्यान है। उसी प्रकार होमर का इलियड, सोफोक्लीज़, युरिपिडीज़ और शेक्सपीयर की ट्रेजेडियाँ, कालिदास का अभिज्ञान-शाकुन्तल, कुमार-संभव आदि रचनाएँ, टालस्टाय, डास्टाएव्सकी, गोर्की, शरत् और रवीन्द्रनाथ के उपन्यास आदि विश्व-साहित्य की प्रायः सभी महामान्य कलाकृतियाँ सनातन नारीत्व के प्राधान्य से ओत-प्रोत रही हैं। यहाँ पर पाठकगण संभवतः अधीर होकर मुझसे पूछना चाहेंगे कि "ये सब फ़िजूल की बातें क्यों लिखी जा रही हैं? इनसे तुम्हारा तात्पर्य क्या है? तुम क्या

यह कहना चाहते हो कि प्रेमचदजी ने अपनी रचनाओं में स्त्री-चरित्रो की अवतारणा नहीं की ? स्त्रियो के सुख-दुःख, स्नेह-प्रेम और आशा-निराशा की कोई झलक नही दिखाई है ?" मैं इन प्रश्नो के उत्तर मे नम्रतापूर्वक यह निवेदन करूँगा कि मेरा यह तात्पर्य कदापि नही है। मैं केवल यह कहना चाहता हू कि प्रेमचद जी ने अपने स्त्री-चरित्रो को वैयक्तिक रूप नहीं दिया है। वे सब एक-एक मूर्त्तिमान (idea) 'भाव' मात्र हैं, जो विशेष-विशेष आदर्शों के काल्पनिक प्रतीक हैं। उनके सुख-दुःख उनकी अन्तरात्मा से स्फुरित नहीं हुए हैं, वे वाह्य चक्रो की कृत्रिम योजना से उत्पन्न हुए हैं। यही कारण है कि प्रेमचद जी के उपन्यासो की दुनिया हमारी महिलाओ को एकदम विजातीय और कष्ट-कल्पित मालूम होती है। विजातीय लेखक टाल्सटाय का ससार उन्हे एक स्वदेशी लेखक द्वारा निर्मित ससार से अधिक परिचित सा लगता है। इसका क्या कारण है ?

मानव-मनोवेदना की यथार्थता से परिचित रसज्ञो को यह बताने की आवश्यकता न होगी कि प्रेमचदजी की राष्ट्रीय भावनाओं से भाराक्रान्त रचनाओ मे नारी के सत्तात्मक सुख-दुःख की अवहेलना की गई है। पर टाल्सटाय की अन्ना, किटी, आदि चरित्रो मे नारी-हृदय की निगूढ़ वेदनाओं का अत्यन्त मर्मस्पर्शी प्रतिबिब आश्चर्यजनक सजीवता के साथ झलकता हुआ पाया जाता है। मानव-हृदय सर्वत्र समान है। यूरोपियन उपन्यासकारों ने नारी की अन्तर्वृत्तियो के मथन से वास्तविक सत्तात्मक वेदना का प्रस्फुटन ऐसे सहज और स्वाभाविक रूप मे किया है कि किसी भी देश की नारी उसके स्पन्दन का अनुभव अपने भीतर कर सकती है और वातावरण की विजातीयता उसकी अनुभूति में किसी प्रकार की बाधा डालने मे असमर्थ सिद्ध होती है।

प्रेमचदजी के उपन्यासो मे एक मूलगत दोष यह रहा है उन्हें कि किसी रचना के लिये आभ्यन्तरिक अनुभूति से नही बल्कि जीवन के वाह्य चक्रो से प्रेरणा प्राप्त हुई है। विश्व-साहित्य के किसी भी श्रेष्ठ उपन्यासकार ने जीवन के वाह्यचक्रो की अवहेलना नहीं की है, पर इन वाह्यचक्रों को वे अपनी

रचनाओं की इमारतो के लिये केवल ईंट-पत्थर, काठ, सीमेंट, गारे और चूने के तौर पर काम मे लाए हैं। पर जिन मूलतत्त्वों की प्राण-प्रतिष्ठा के लिये उन्होंने इमारतें खड़ी की हैं उनकी प्रेरणा उन्हें अपने अन्तर के अतल से प्राप्त हुई है।

जिस प्रकार अन्ना के चरित्र में टाल्सटाय की कला की मूल वेदना केन्द्रीभूत होती है, उसी प्रकार 'रंगभूमि' की सोफिया के चरित्र में प्रेमचंदजी की कला की विशेषता व्यक्त हो जाती है। मैं पहले ही कह चुका हू कि प्रेमचद जी की कला पुरुष-प्रधान है। सोफिया के चरित्र में भी उनके अनजान मे यही पौरुष-भाव आया है। सोफिया का हृदय मातृत्व की आँच से नहीं तपा है, इसलिये उसकी तीव्रता निष्प्राण और तेजहीन है। उसका सुख सत्ता-रहित है और उसका दुःख असत्य है। मातृ-हृदय का प्रस्फुटन केवल सतान होने से ही नही होता। अनेको कुमारियों की सहज स्नेहाभिव्यक्ति से भी मातृ-हृदय की वेदना प्रकट होती है। इसके विपरीत संतान को जन्म देने पर भी बहुत-सी स्त्रिया मातृ-हृदय-हीन ही रह जाती हैं। सोफिया की सहानुभूति-मूलक प्रवृत्ति मे नारी की सहज समवेदना का कोई आभास नहीं झलका है। वह काल्पनिक है। देश की दीन-दुःखी जनता पर सोफिया की जो सहानुभूति उमड़ती है वह उसकी शिक्षित बुद्धि की कष्ट-कल्पित भावुकता-मात्र है। सोफिया एक आकाशचारिणी पक्षी है, जो पृथ्वी के निवासियो पर दो-चार बूँद आँसू गिराने का शौक रखती है। वह भूमिचारिणी कपिला नही है, जो कन्टकों की वेदना को वास्तव में अपने शरीर मे अनुभव करती है और मिट्टी के निवासियों को प्यार करके, उन पर अपनी स्निग्ध, वेदनाविकल और सकरुण, दृष्टि डालकर उन्हें स्तन्य-पान कराती है।

'रंगभूमि' की रानी जी के चरित्र से भी प्रेमचद जी के एक विशेष कलात्मक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। रानी जी का चरित्र पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है जैसे थियेटर के स्टेज में माता का पार्ट खेला जा रहा है और सभी पाठक यह अनुभव करने लगते हैं कि वास्तविक अन्तर्वेदना

से विह्वल होनेवाली हमारी स्नेहमयी माता रानी जी की दुनिया में किसी प्रकार भी संबंधित नहीं है। पर 'गोरा' की आनंदमयी का चरित्र पढ़िए। प्रत्येक पाठक अपने अन्तस्तल में यह अनुभव करने लगता है कि इस स्नेहशील महिला की प्रकृति के भीतर उसकी अपनी माता के स्नेह-सुकोमल प्राणों का प्रतिबिंब वर्त्तमान है। कारण स्पष्ट है। रानी जी का हृदय राजनीति और समाजनीति से संबंध रखनेवाले वाह्यचक्रों से विकास-प्राप्त हुआ है—वह एक निष्प्राण 'आइडिया' मात्र है, और उसका आधार शून्य में है। पर आनन्दमयी का हृदय मानवीय रक्त से सींची जाने वाली अत्यंत सुकुमार वृत्तियों के प्राण-स्पंदन से गठित है। उसका आधार निखिल जीवनदायिनी मिट्टी के गर्भ में स्थित है।

प्रेमचंद जी के उपन्यासों के अधिकांश नारी-चरित्र राष्ट्रीय कर्मभूमि में भाग लेने वाली कठपुतलियों के सिवा और कुछ नहीं हैं। इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने पर उनका जीवन सार्थक हो जाता है। पर रवीन्द्र ठाकुर के 'घरे-बाइरे' में एक ऐसा आदर्शवाद प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है जो प्रेमचंद जी के आदर्श से एकदम उलटा है। 'घरे-बाइरे' की विमला जब नयी उम्र के जोश में देश के छायात्मक स्वरूप के प्रति अपने हृदय में काल्पनिक प्रेम जागरित करने की चेष्टा करती है, और सदीप के संसर्ग से अनेक उलटे-सीधे चक्करों के फेर में पड़ती है, तब उसका परिचय एक सुकुमार बालक से होता है। इस बालक को देखकर जब उसका मातृ-हृदय उद्वेलित हो उठता है, तब उसे जीवन की वास्तविक सहज अनुभूति का आभास मिलता है। जब वह देखती है कि वह सुकुमार बालक अंध भावुकता के फेर में पड़कर एक हाथ में पिस्तौल और दूसरे हाथ में गीता की पुस्तक लिये हुए भारत को स्वतंत्र करने का स्वप्न देख रहा है, तो मातृस्नेह-जनित चिंता के कारण उसकी आंखों के आगे पोपली राजनीति के छायात्मक जीवन की अवास्तविकता स्पष्ट झलकने लगती है। वह लड़के के भविष्य के लिये व्याकुल होकर रो पड़ती है और आकाश की अस्पष्ट छाया से नीचे उतर कर ठोस धरातल पर पाँव रखती है, और इस प्रकार जीवन की वास्तविकता का परिचय पाती है। अब वह व्यक्ति की यथार्थ सत्ता को प्यार

करने लगती है। वह समझ जाती है कि व्यक्ति को लेकर ही राष्ट्र बना है। उसका पति निखिलेश इसी दिन की प्रतीक्षा कर रहा था।

कला का उद्देश्य चिरकाल से मानवात्मा की वैयक्तिक सत्ता के आधार पर सामूहिक सत्ता का प्रस्फुटन करना रहा है। जो इस सत्य को समझ गया है वही सच्चे अर्थ में समाजवादी है, अन्यथा सब ढोंग है। पहले ही कहा जा चुका है कि पुरुष केन्द्रातीत (Centrifugal) शक्ति के प्रति आकर्षित होकर विश्व-विजय की आकाङ्क्षा करके वाह्य जगत् में अपनी कीर्ति प्रसारित करना चाहता है। पर स्त्री केन्द्रोन्मुखी शक्ति से प्रेरित होकर समस्त वाह्य शक्तियों को भीतर की ओर ले जाना चाहती है, और अपने हृदय के विस्तारहीन किन्तु अतल गंभीर क्षेत्र में ही परिपूर्णता प्राप्त करना चाहती है। पुरुष बहुधा अपनी शक्ति को बहुत आगे बढाने के कारण न तो अनन्त का रहस्य पाने में समर्थ होता है, और न अन्त में ही सतोष प्राप्त कर सकता है; वह केवल छिन्न मेघ के समान शून्य में भटकता फिरता है। लेकिन नारी का क्षेत्र सीमित होने पर भी वह पूर्णता प्राप्त करने मे समर्थ हो जाती है। नेपोलियन विश्व–विजय की आकांक्षा से अपनी समस्त शक्ति वाह्य–चक्र मे लगा देता है, और उस अनिश्चित चक्र का अन्त न पाकर अन्त में सेन्ट हेलेना के निर्वासन में दुर्गति को प्राप्त होता है। सेन्ट हेलेना के निर्वासन मे नेपोलियन को बहुत-सी बातें सोचने का अवसर मिला था। उस एकात चिंतन के फलस्वरूप उसने कहा था: "मैंने अपना सारा जीवन व्यर्थ की महत्त्वाकांक्षा में बिताया। जब तक मनुष्य को वैयक्तिक आत्मा की वेदना का रहस्य ज्ञात नहीं होगा, तब तक राष्ट्रीयता और विश्व-विजय सब निष्फल हैं।" पर उसकी चिर-दुःखिनी, स्नेह-परायणा स्त्री जोजेफीन केवल उसकी वैयक्तिक आत्मा का प्रेम प्राप्त करके ही सन्तुष्ट रहती है, और जब नेपोलियन अपनी महत्त्वाकाङ्क्षा में बाधा पड़ते देख उसे त्याग देता है, तो वह अपने ऐकातिक प्रेम की निष्फलता का उपादान लेकर अनत काल के लिये वियोग की नीरव अग्नि सुलगाती रहती है। राम और सीता का भी वही हाल रहा है। प्रेमचद जी ने राम और नेपोलियन के 'टाइप' का चित्रण अत्यत सुन्दरता पूर्वक किया है। उनकी प्रतिभा का यह विशेष गुण असाधारण

है। पर अभागिनी सीता और दुखिनी जोजेफीन के स्निग्ध हृदय की अतल व्यापी मार्मिक वेदना वह प्रस्फुटित नहीं कर पाए हैं।

प्रेमचद जी की कला में मस्तिष्क का चमत्कार है, हृदय का नहीं। कहना नहीं होगा कि कला का मूल सबंध हृदय से है। मस्तिष्क की कल्पना हृदय की वेदनाओं को ठीक तरह से सँजोने में सहायता अवश्य देती है, पर यदि हम उस कल्पना को ही कला का मूल उपकरण मान बैठें, तो इससे बड़ी भूल और कोई नहीं हो सकती। मस्तिष्क की करामात जितनी अच्छी तरह से दिखलाई जा सकती है, प्रेमचद जी ने दिखलाई है। पर जहां मानव-हृदय की सुकुमार भावनाओं, मानव-मन के जटिल-जाल-पूर्ण अन्तर्द्वन्द्वों के प्रस्फुटन का अवसर आया है, वहा उनकी कलम रुक गई है। प्रेमचद जी के चरित्रों में सूरदास ने काफी ख्याति पायी है। वह सूरदास भी मस्तिष्क-प्रधान जीव है। हृदय की सरस स्निग्धता, स्वाभाविकता तथा सजीव व्यक्तित्व उसमे नही पाया जाता। कोरे तत्त्वों की आलोचना उसे भाती है और पण्डिताई उसे बहुत प्रिय है। वह किसी अत्याचारग्रस्त व्यक्ति के प्रति जो सहानुभूति प्रकट करता है वह हृदय से उमडे हुए सहज स्नेह तथा करुणा के कारण नहीं, बल्कि मस्तिष्क की कल्पना के कारण। सहज स्नेह अयाचित आता है, पर सूरदास से वह अनेक वाद-विवाद के पश्चात्, अनेक तत्त्वोपदेशों के बाद प्राप्त होता है। वास्तव में सूरदास भी, प्रेमचद जी के प्राय: सभी आदर्श-पात्रों की तरह, कोई रक्तमास से निर्मित जीवित पात्र नहीं, बल्कि एक विशेष नैतिक आदर्श का मूर्तिमान प्रतीक है। जहाँ तक नैतिक आदर्श का संबंध है, प्रेमचंद जी का यह पात्र अपनी एक निजी विशिष्टता अवश्य रखता है, और उसके चरित्र का निर्वाह भी बडे सुन्दर रूप से हुआ है। पर उपन्यास लेखक के लिये सबसे बडी बात यह होती है कि चाहे वह किसी भी सिद्धात का प्रचार करे, किन्तु अपने पात्रो को सजीव और वैयक्तिक रूप देकर पाठकों के हृदय में रसानुभूति जगाने में सफलता प्राप्त कर सके। दुःख के साथ कहना पडता है, कि इस दृष्टिकोण से प्रेमचद जी असफल ही रहे। सूरदास कल्पित आदर्शों का कठपुतला है, वास्तविक जगत् का सजीव पात्र नहीं। 'गोदान' प्रकाशित होने के बाद होरी प्रेमचद जी के सब

नायकों को पीछे छोड गया है। होरी के चरित्र चित्रण से भी प्रेमचंद जी की कला का पुरुष-प्रधान रूप ही अधिक सुस्पष्ट होता है। फिर भी सूरदास में और होरी में बडा अन्तर है। होरी के चित्रण में प्रेमचद जी ने उसके अन्तर्द्वन्द्वों का बहुत अच्छा दिग्दर्शन कराया है, और उसे सूरदास की तरह केवल एक प्रतीक न बनाकर, सजीव, वैयक्तिक रूप में चित्रित किया है। रसानुभूति काव्य का प्राण है। रस की धारा जब आत्मा की अनुभूति से उत्सारित होकर प्रवाहित होती है, तभी रसज्ञ पाठक के हृदय को स्पर्श करने में समर्थ होती है। पर जब वह लेखक के हृदय से नहीं, किंतु मस्तिष्क की कल्पना से निकलती है, तब वह केवल कोरे तत्त्वालोचकों को ही रुचिकर प्रतीत हो सकती है। प्रेमचंद जी की कला में स्थान-स्थान पर रसावेग अवश्य दृष्टिगोचर होता है, पर वह रसावेग भी कल्पना के दबाव से उत्पन्न होता है; वह उनका हृदयानुभूत जीवित सत्य नहीं है। यदि मुझसे कोई पूछे कि प्रेमचद जी की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ कौन हैं, तो मैं उत्तर दूँगा 'सौत', 'बड़े घर की बेटी' तथा इसी कोटि की अन्य कहानियाँ। इस कोटि की कहानियाँ वैयक्तिक आत्मा की वास्तविक सत्ता की वेदना के आधार पर स्थित हैं। 'सौत' में जिस नायिका का चरित्र अंकित किया गया है उसके हृदय की स्तब्ध वेदना प्रेमचद जी ने अत्यंत सुन्दर रूप से दिखाई है। हमारे देश की दुःखिनी, कर्म-निरता, स्नेह-शीला, त्यागमयी, आत्मघातिनी स्त्रियों की मर्म-वेदना की ऐसी सहज, करुण तथा शात छवि मैंने अन्यत्र बहुत कम देखी है। इस छोटी-सी कहानी के भीतर अचल समुद्र का वह प्रशात गांभीर्य छिपा है, जो उमडने पर 'रंगभूमि' के भीषण कोलाहल की प्रचंड अग्नि को एक मुहूर्त्त में बुझा सकता है। जब मैंने पहले पहल यह कहानी पढ़ी थी तब मेरी उम्र बहुत छोटी होने पर भी मुझे जो अपूर्व रस मिला था उसका यथार्थ वर्णन मैं कर नहीं सकता। अनिर्वचनीय पुलक के आँसुओं से मेरी आँखें डबडबा आई थी और एक स्निग्ध, करुण विषाद रस से मेरा हृदय, आच्छन्न हो गया था। मैं तब एक अबोध बालक होने पर भी यह सोचकर फूला नहीं समाया कि हिन्दी संसार में भी एक ऐसा लेखक उत्पन्न हो गया है जो अपनी आत्मा की वास्तविक अनुभूति से पाठकों के हृदय में रस का

स्रोत उद्वेलित कर सकता है। तब तक मैं रवीन्द्र और शरत् की बहुत-सी कहानियाँ पढ़ चुका था और मेरे किशोर-हृदय में इस बात की प्रबल स्पर्धामूलक आकांक्षा जगी हुई थी कि हिन्दी में भी उन कहानियों के टक्कर की मौलिक कहानिया पढ़ने को मिलें। प्रेमचंद जी ने मेरी इस भावुक आकांक्षा की पूर्ति बहुत-कुछ अंशों में कर दी थी। जिस प्रकार के भावों का प्रस्फुटन प्रेमचंद जी की कहानियों में और 'सेवा-सदन' में हुआ है, यदि उन्हीं का विकास नियमित रूप से हुआ होता, तो वह वास्तव में अमूल्य साहित्यिक रत्नों की सृष्टि अपने पीछे छोड़ जाते। पर खेद है कि उन सुन्दर, सुकुमार और सहृदय भावों को उन्होंने जानकर या अनजान में जड में ही नष्ट कर देना चाहा। रस-रचना छोड़कर वह तत्त्वालोचन में लग गए।

संसार के कुछ विशिष्ट मनीषियों की यह राय है कि पुरुष की वृत्तियों का विकास अभी प्रारम्भिक अवस्था से विशेष आगे नहीं बढ़ पाया है, अभी उसमें प्राथमिक बर्बरता के असंख्य चिह्न वर्तमान हैं। पर नारी-हृदय पूर्णता के बहुत निकट पहुँच चुका है। असल बात यह है कि नारी सृष्टि के प्रारंभ से ही पूर्ण है, यद्यपि उसका क्षेत्र सदा सीमित रहा है। पुरुष देशकाल के भेद से अपनी प्राथमिक वृत्तियो के ऊपर पालिश के नये-नये रंग चढ़ाता जाता है, और किसी एक विशेष रंग को पूर्ण रूप से अपनाने में असमर्थ रहता है। वह विज्ञान-चक्र में जाता है तो परिवर्तन की असीमता देखकर धक्के खाने लगता है, राजनीतिक चक्र में जाता है तो उसकी जटिलता में आबद्ध होकर जकड़ जाता है। युग से युगान्तर को वह अनिश्चित स्थिति में लड़खड़ाता चला जाता है। पर नारी अपनी समस्त शक्ति को संतान-प्रेम, समाज-सेवा, गृह-कर्त्तव्य आदि के निश्चित वृत्त में ही चिरकाल से केन्द्रित करती आई है। देशकाल के परिवर्त्तन से उसके स्वभाव में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण, मूलगत, अन्तर नहीं आने पाता। वह चाहे आधुनिक रूसी नारी की तरह 'सेक्स' भावना से एकदम मुक्त ही क्यों न हो जाय, तथापि उसकी मूल मनोवृत्ति—निःस्वार्थ-सेवा-परायणता—में कोई परिवर्तन नहीं दिखाई दे सकता। हमारे देश की अधिकाश स्त्रियाँ यद्यपि अशिक्षिता हैं और सभा-समितियों में भाग नहीं ले सकतीं, तथापि उनके भीतर सेवा-भाव और आत्म-त्याग का

जो बीज छिपा हुआ है उसकी Potentiality (सम्भाव्य क्षमता), आश्चर्यजनक है। यदि इस बीज को समुचित रूप से विकसित होने का अवसर दिया जाय तो उनकी सेवा परायणता केवल परिवार के भीतर ही सीमित न रहकर विश्व-मानव के ऊपर अपनी शीतल छाया का विस्तार करने में समर्थ हो सकती है। पाश्चात्य देशों की स्त्रियां अपने सुख-दुखों का यथार्थ रूप जनता के आगे रखने में समर्थ हैं, लड-झगड कर अपने अधिकारों को प्राप्त करने की शक्ति उन्होंने पा ली है, पर हमारे देश की स्त्रियां पुरुषों द्वारा उपेक्षित होकर अज्ञात रूप से अपने स्नेह-प्रेम का चक्र पूरा कर रही हैं, और फल-कामना से रहित होकर स्तब्ध भाव से अनत की प्रतीक्षा में बैठी हैं। उनकी सामाजिक दुर्दशा के प्रति हमारी सभा–समितियो में मौखिक सहानुभूति अवश्य प्रकट की जाती है, और यत्र–तत्र निबधो मे भी 'फैशनेबुल' शब्दो में उनका 'काज' 'प्लीड' किया जाता है। पर उनके हृदय का गुप्त क्रन्दन किस तरह से उमड-उमडकर, रह-रहकर उच्छ्वसित हो रहा है, और धीरे-धीरे अपनी तरंगो को अज्ञात रूप से ईथर (ether) में प्रवाहित करता हुआ बिंदु-बिंदु करके महाकाश मे सचित हो रहा है इसकी खबर कितने लोगो को है? नारी की इस मूल-शक्ति से प्रेरित हुए बिना किसी भी यथार्थ सर्जनात्मक साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा नही हो सकती।

× × × × × ×

मैंने प्रेमचंद जी की रचनाओं के विश्लेषण द्वारा उन्हें खंड रूप से विभाजित करके ऊपर विचार नहीं किया है। उनकी कला के मूल में क्या है और वह किस आधार पर प्रतिष्ठित है, यही दिखलाने की चेष्टा मैंने की है। प्रेमचद जी के खिलाफ बहुत-से आलोचको ने तरह-तरह की बातें लिखी हैं। मैं उनमें से किसी की भी बात से पूर्णतया सहमत नहीं हूँ। अमुक रचना 'एटर्नल सिटी' की छाया है, अमुक रचना 'वेनीटी फेयर' की नकल है, इस प्रकार की लचर बातों को मैं अनावश्यक तथा महत्त्वहीन समझता हूँ। इस प्रकार की युक्तियो से प्रेमचंद जी को एक क्षुद्र नक्काल ठहराना अत्यन्त हास्यास्पद है। प्रेमचद जी की प्रतिभा की व्यापकता का महत्त्व मैंने सदा मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। उन्होंने आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य

की प्राण-प्रतिष्ठा की है। ऐयारी और तिलस्माती उपन्यासो की बाढ से हिन्दी-साहित्य का उद्धार करके उन्होने जो महत् कार्य किया है वह इतिहास मे चिर-स्मरणीय रहेगा। उन्होने साहित्य को नया जीवन दिया, नयी चेतना को उभारा है। उनकी इस महत् साहित्यिक साधना के प्रति मैं कभी अकृतज्ञ नही रहा। उनसे मेरा केवल कला संबधी मतभेद रहा है, जो सदा वैसा ही बना रहेगा।
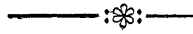
प्रेमचंदजी का व्यक्तित्व और साहित्य

प्रेमचन्द जी के आविर्भाव ने हिन्दी साहित्य में जिस नये युग की अवतारणा की थी उसके महत्व का ठीक-ठीक अनुमान लगा सकना आज नयी पीढ़ी के साहित्यकारों के लिए सभव नहीं है। तब तक हिन्दी कथा-साहित्य बच्चों के खेल के साहित्य की स्थिति से होकर गुजर रहा था। जो लघुकथाएं (तब तक लघु-कथा के लिए हिन्दी में कोई शब्द ही नहीं था और बंगला शब्द 'गल्प' ही हिन्दी में भी बडे धडल्ले से अपनाया जाता था) पत्र-पत्रिकाओं में छपती थीं, वे या तो बंगला से अनुवादित होती थीं या यदि किसी अंश में मौलिक होती थीं तो—अधिकांशतः—क्या शैली में, क्या भाव में और क्या भाषा में एकदम बचकानी लगती थीं। प्रेमचन्द जी ने प्रारंभ से ही हिन्दी कहानी-साहित्य को प्रौढ़ता की ओर ले जाने में बहुत बड़ी सफलता पायी।

जब प्रेमचन्द जी की कहानियां 'सरस्वती' तथा दूसरी पत्रिकाओं में पहले-पहल छपने लगीं, तब मैं स्कूल का विद्यार्थी था। पर तब तक तत्कालीन बंगला कथा-साहित्य से अच्छी तरह परिचित हो चुका था, रवीन्द्र और शरत् की कहानियों के रस में भीग चुका था। हिन्दी में भी उच्च कोटि की मौलिक कहानिया देखने की उत्सुकता मेरे मन में बराबर बनी रहती थी, पर बार-बार निराश होना पड़ता था। इसलिए जब मुझे पहले प्रेमचन्द की एक कहानी पढ़ने को मिली, तब मेरे हर्ष, पुलक और विस्मय का ठिकाना नहीं रहा। वह पहली कहानी थी, जिसमें न तो बंगलापन की बू थी और न जो बच्चे के खिलवाड़ की ही चीज थी। उसकी भाषा, भाव और शैली में एक निरालापन, एक अभूतपूर्व चमत्कार मैंने पाया। हिन्दी कथा-साहित्य के तत्कालीन कूड़ेखाने के बीच में अचानक एक अनमोल रत्न पाकर उसके उज्वल भविष्य के सम्बन्ध में बच्चों की-सी जो रंगीन कल्पनाएं मेरे मन में जगने लगीं उनका उल्लेख करके इस समय मैं पाठकों की हास्यप्रियता को बढ़ावा नहीं देना चाहता। तात्पर्य केवल यह है कि प्रेमचन्द जी के आविर्भाव के साथ-साथ

हिन्दी कथा-साहित्य के नये युग के प्रवर्तन के संबंध में मैं एक स्कूली बच्चा होने पर भी पूर्णतः सचेत था। तब से मैं जिस जिस पत्र में प्रेमचन्द जी की कहानी छपी पाता उस पर भुक्खड़ की तरह टूट पड़ता।

प्रेमचन्द जी की कहानियो के दो प्रारभिक सग्रह 'नव-निधि' और 'सप्तसरोज' नाम से प्रकाशित हुए। जहा तक मुझे याद है, 'नव-निधि' की कहानिया अधिकाशतः ऐतिहासिक थीं। तथापि उनका विषय निरूपण ऐसा सुन्दर था कि लेखक का रचना-कौशल देखकर चकित रह जाना पड़ता था। और उनमे भावो की खूबिया ऐसे अच्छे ढंग से व्यक्त की गई थी कि कोई भी पढ़कर मुग्ध हुए बिना नही रह सकता था। भाव और शैली की नवीनता के अतिरिक्त जो एक और बहुत बडी विशेषता उन कहानियों में पाई जाती थी, वह थी प्रेमचन्द जी की मुहावरेदार और रोजमर्रा की भाषा। प्रेमचन्द जी उर्दू से हिन्दी मे आये थे, इसलिए इस प्रकार की भाषा के आचार्य थे। पर उर्दू से हिन्दी मे आनेवाले दूसरे लेखको की तरह उन्होने हिन्दी को उर्दू का चोला पहनाने की गलती कभी नही की। प्रारभ मे हिन्दी में प्रयुक्त होनेवाले सस्कृत के तत्सम शब्दो का ज्ञान उन्हे प्रायः नही के बराबर था; पर हिन्दी की मिट्टी मे पैदा होने के कारण तद्भव शब्दो से वह खूब अच्छी तरह परिचित थे और उनका प्रयोग ऐसे उपयुक्त अवसर पर, ऐसे अच्छे ढंग से और ऐसे सहज भाव से करते थे कि कोई भी हिन्दी भाषा-प्रेमी कलाविद् युवक पढ़कर गद्‌गद न हो यह असभव था। मैंने 'नवनिधि' को अपने स्कूली जीवन मे कम-से-कम दस बार पढ़ा होगा।

उसके बाद 'सप्त-सरोज' नामक कहानी सग्रह देखने मे आया। इस संग्रह ने हिन्दी कहानी-साहित्य का स्तर बहुत ऊँचा उठाया और एक पूर्णतः नये युग की सूचना दी। इसमे कहानी-कला की अभिव्यक्ति बहुत सुन्दर रूप से हुई थी। उन कहानियों मे सहज, सरल वास्तविकता की पृष्ठभूमि मे प्रतिफलित होनेवाली स्निग्ध, सुन्दर सहृदयता की अपूर्व अभिव्यंजना पाठक के हृदय मे एक मीठी वेदना की गुदगुदी-सी पैदा करती थी। प्रायः २५ वर्ष पूर्व मैंने 'सप्त-सरोज' की कहानिया पढ़ी थीं और केवल एक ही बार उन्हें

पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ था। तथापि अभी तक उसकी कुछ कहानिया मेरे स्मृति-पटल मे अत्यन्त उज्ज्वल रूप से अकित हैं। 'सौत', 'बडे घर की बेटी,' 'पच परमेश्वर' आदि कहानिया हिन्दी कथा-साहित्य के इतिहास मे सदा अमर होकर रहेगी। उन कहानियो मे कलाकार प्रेमचन्द अपने सच्चे, अकृत्रिम और सहज रूप मे प्रकट हुए हैं।

'सप्त-सरोज' के प्रकाशन के कुछ समय बाद 'सेवा-सदन' प्रकाशित हुआ। उस युग के हिन्दी उपन्यास-साहित्य में यह निर्विवाद रूप से युगातरकारी रचना थी। तब तक हिन्दी मे केवल जासूसी और तिलिस्मी उपन्यास लिखे जाते थे। साहित्य मे उपन्यास का कोई विशेष स्थान नहीं माना जाता था। इसलिए जो उपन्यास लिखे जाते थे वे केवल बाजारू जनता के मनोरजन के लिए। 'सेवा-सदन' पहला उपन्यास था जिसने हिन्दी उपन्यास को बाजारू दुनिया से ऊपर उठाकर साहित्य के स्तर पर लाकर खडा किया। इस उपन्यास मे दिखाया गया है कि पारिवारिक और सामाजिक कारणो से भटकी हुई एक लडकी किस प्रकार पतन के गढे मे गिरकर वेश्या का जीवन बिताने को बाध्य होती है। उसकी उस दयनीय स्थिति मे लेखक की पूरी सहानुभूति उसके साथ है और उसने उसके उद्धार के सुधारवादी उपाय निर्देशित किये हैं।

इस उपन्यास मे प्रेमचन्द जी को स्पष्ट ही शरत् की पतिता नायिकाओं से प्रेरणा मिली होगी। शरत् की सी अन्तर्दृष्टि, भाव-प्रवणता और कलात्मकता प्रेमचन्द जी मे न होने पर भी उन्होने जिस सरल, सहृदयतापूर्ण ढग से अपनी नायिका का चरित्र-चित्रण किया था वह हिन्दी उपन्यास मे एक बहुत बडा कदम था। मैंने बड़े चाव से उस उपन्यास को पढ़ा था और उच्च साहित्यिक कोटि के उस पहले हिन्दी उपन्यास को पढ़कर, उससे हिन्दी का गौरव बढ़ता हुआ पाकर, गर्वोच्छ्वास से मेरी छाती फूल उठी थी। 'सेवा-सदन' प्रकाशित होने के प्राय: तीन वर्ष बाद 'प्रेमाश्रम' प्रकाशित हुआ। यह काफी बड़ा उपन्यास था और प्रेमचद जी ने पूरे परिश्रम से उसे लिखा था। उसके प्रकाशित होते ही मैंने आदि से अत तक बड़े

मनोयोग से उसे पढ़ा। मुझे निराशा हुई जब मैंने उसे अपनी आशा के अनुरूप नहीं पाया। मेरी निराशा का एक विशेष कारण था। 'सेवा-सदन' और 'प्रेमाश्रम' के व्यवधान-काल में साहित्य और कला के संबंध में मेरे विचारों में बहुत परिवर्तन और विवर्तन हो चुका था। प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य-कला के प्राचीन और नवीन भावों के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप औपन्यासिक कला की परख मैं एक दूसरी ही कसौटी से करने लगा था। उस कसौटी से कसे जाने पर 'प्रेमाश्रम' पूर्णतः खरा नहीं उतरा। पर इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें मूल्यवान तत्वों का एकदम अभाव था। जिस मिट्टी को प्रेमचन्द जी ने अपनाया था उसका जीवन से घनिष्ठ संबंध था। 'प्रेमाश्रम' पहली ऐसी साहित्यिक रचना थी जिसमें ग्राम्य जीवन को बड़े गहरे और व्यापक रूप से चित्रित किया गया था। पर चरित्र-चित्रण और आदर्श-प्रस्फुटन की दृष्टि से उसमें बहुत-सी उलझनें रह गई थीं। उन दिनों मेरी रगों में कच्ची उम्र का नया खून जोश मार रहा था, इसलिए 'प्रेमाश्रम' के संबंध में तत्कालीन साहित्यालोचकों से मेरा मतभेद होने पर मैं न रह सका और काफी स्पष्ट शब्दों में मैंने अपना मत व्यक्त कर दिया। इस पर आलोचना-प्रत्यालोचना का जो लम्बा चक्कर चला, उससे तत्कालीन हिन्दी साहित्य-गगन में जो बवण्डर उठा था, उससे उस युग के पाठक भली भाँति परिचित हैं। आज मैं 'प्रेमाश्रम' के सम्बन्ध में अपने विचारों की उग्रता के कारण संकोच का अनुभव कर रहा हूँ। पर यदि उदार दृष्टि से देखा जाय, तो हमारे साहित्य के उस नवीन क्रांतिकारी युग में मेरे भीतर कला-सम्बन्धी प्राच्य और पाश्चात्य मानों और आदर्शों के विचित्र सम्मिश्रण से जिस रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रिया ने तहलका मचा रखा था उसके फलस्वरूप मेरे विचारों में उग्रता और असहनशीलता आनी अनिवार्य थी। हमारे आलोचकगण जिस घिसी-घिसायी कसौटी पर प्रेमचन्द जी की उस नयी रचना को कस रहे थे और विश्लेषण तथा विवेचन से रहित आलोचनाओं में जिन कृत्रिम और रटे-रटाये 'फिकरों' को दोहरा रहे थे, वे वास्तव में बहुत ही हास्यास्पद और असहनीय थे। उनसे प्रेमचन्द जी की महत्ता प्रमाणित होने के बजाय उनकी प्रतिभा की जो वास्तविक विशेषता थी वह भी

अप्रमाणित होने लगती थी। मै 'प्रेमाश्रम' की आलोचना करते हुए भी बराबर प्रेमचन्द जी की प्रतिभा के सच्चे रूप पर जोर देता चला आता था। और आज तक मैं उसे मुक्त हृदय से स्वीकार करता चला आता हू।

प्रेमचन्द जी से मिलने की इच्छा मुझे बहुत दिनों से थी। १९२८ मे जब वह 'माधुरी' का सम्पादन कर रहे थे तब मै उनसे पहली बार लखनऊ में मिला। अपने सकोची स्वभाव के कारण मै शायद तब भी उनसे न मिल पाता, पर एक ऐसा कारण आ गया, जिससे मेरे लिये उनसे मिलना बहुत आवश्यक हो गया।

जिस दिन मैं उनसे मिला वह मेरे लिये बहुत बड़े सौभाग्य का दिन था। प्रारम्भ मै उनके दर्शनमात्र से ही सहम-सा गया। उनका चमकता हुआ विस्तृत ललाट, अन्तर्भेदिनी, सुगभीर, किन्तु शात और साथ ही स्निग्ध आखे, मोटी भौहे और बडी-बडी मूछे मिल कर एक ऐसे विचित्र व्यक्तित्व को व्यक्त करती थी जो पूर्णतः भारतीय होने पर भी अपने भावलोक के एकाकीपन मे एक निराली वैदेशिक विशेषता रखता था। मैंने अपने परिचित प्रतिष्ठित साहित्यिक मित्रो से उनमे एक विशिष्ट विभिन्नता पायी। ज़ार के युग में अनेक कड़वे अनुभवा से निष्पोषित, प्रताड़ित और पीड़ित रूसी मनीषियो के अतल-व्यापी विक्षोभ की सघन गहनता मुझे उनके व्यक्तित्व में दिखायी दी। यदि गौर किया जाय तो प्रेमचन्द जी और मैक्सिम गोर्की की वाह्याकृतियों की कई रेखाओ मे आश्चर्यजनक साम्य दिखायी देगा। दोनों के चित्र उठा कर दोनों का व्यक्तित्व मिला कर देखिये। आप यह देख कर हैरत मे पड़ जायेगे कि दोनो देशो की भौगोलिक परिस्थितियो, सभ्यता और सस्कारो मे मूलतः भिन्नता होने पर भी दोनों देशो के आधुनिक साहित्य के दो विशिष्ट स्वर्गीय प्रतिनिधियो के व्यक्तित्व मे इतनी अधिक समानता पायी जाती है।

सामयिक पत्रों मे प्रेमचद जी की कला-सम्बन्धी मान्यता से मेरा मतभेद कुछ कड़वे रूप मे व्यक्त हो चुका था, पर जब उनसे मिला तब उन्होंने सामान्य सकेत से भी यह प्रकट न होने दिया कि मेरे विचारों से मतभेद

होने के कारण मेरे प्रति उनके मन मे किसी भी प्रकार का द्वेष-भाव उत्पन्न हुआ है। प्रारम्भ मे अवश्य उन्होंने कुछ सकोच के साथ बाते की, पर कुछ ही देर बाद वह ऐसे खुले कि मुझे अनुभव होने लगा जैसे हम दोनो की बहुत पुरानी और गाढी मैत्री हो। यह बात प्रेमचन्द जी के हृदय की असाधारण उदारता के कारण ही सभव हुई थी। मेरा हृदय उनके प्रति श्रद्धा और सभ्रम के भाव से झुक गया। मुझे सबसे बडी प्रसन्नता इस बात से हुई कि छुटपन मे जिस अपरिचित लेखक की असाधारण प्रतिभा से मुग्ध होकर उसके महान व्यक्तित्व का जो कल्पना-चित्र मैने अपने शिशु-मन मे बनाया था, वर्षों के वाद-विवाद और मतभेद के बाद उससे मिलने पर अपने उस बाल-कल्पना के चित्र को मैंने प्राय: उसी रूप मे सजीव आकार मे पाया।

उस दिन प्रेमचन्द जी से बहुत-सी बाते हुई। उन्होने बताया कि उन्हें लेखक बनने के लिये अपनी परिस्थितियो के साथ किस प्रकार सघर्ष करना पडा है, किन-किन लेखको से उन्हे प्रेरणा मिली है, औपन्यासिक कला के सम्बन्ध मे उनकी क्या धारणा है, हिन्दी के साहित्यकारो की आर्थिक दुर्दशा का प्रश्न कैसे हल हो सकता है, वह स्वय अपनी आर्थिक [illegible] और प्रकाशको के शोषण से मुक्त होने के लिये किस प्रकार संघर्ष कर रहे हैं, आदि विषयो को उन्होंने विस्तार से समझाया। उनकी और सब बातो मे उनसे पूर्णतः सम-अनुभूति का अनुभव करते हुए भी एक बात से मेरा मतभेद बना ही रहा। औपन्यासिक कला के सम्बन्ध मे उनके विचारो से मै सहमत न हो सका। मैं समझ गया कि हम दोनो की कलात्मक अभिव्यक्ति की अन्तर्धारायें दो विभिन्न दिशाओ की ओर प्रवाहित हुई हैं। तथापि इस कारण से हम दोनो के बीच पारस्परिक सम-अनुभूति मे किसी प्रकार की बाधा पड़ने का कोई कारण मुझे नही दिखायी दिया। इसके अतिरिक्त जीवन और जगत् के मूलगत 'प्रश्नो के सम्बन्ध मे हम दोनो एकमत थे। जब मै उनसे मिलकर लौटा तो उनके व्यक्तित्व की महानता के सम्बन्ध मे ऐसी दृढ धारणा साथ लेता हुआ चला जिसकी अमिट छाप अभी तक मेरे मन मे अकित है!

दूसरी बार प्रेमचन्द जी से तब मिला, जब हम दोनो प्रयाग में कुछ साहित्य-प्रेमियो द्वारा आयोजित एक गल्प-सम्मेलन मे भाग लेने आये हुए

थे। प्रयाग तो मैं चला आया था, पर ऐन मौके पर गल्प-सम्मेलन में भाग लेने के सम्बन्ध में मेरा विचार बदल गया। मैंने भाग नहीं लिया, पर प्रेमचंद जी शायद यह जानने के लिये उत्सुक थे कि उस बीच हिन्दी में कहानी-कला किस हद तक तरक्की कर चुकी है। इसलिये उन्होंने भाग लिया। पर जब लौट कर आये तो मुझसे बोले कि "आपने भाग न लेकर अच्छा ही किया।" उन्हें बड़ी निराशा हुई थी। कहने लगे कि "हिन्दी की कहानियों का स्तर अभी तक इतना गिरा हुआ है, इसकी कल्पना मुझे नहीं थी।" मैंने कहा: "आपकी निराशा का एक कारण शायद यह रहा होगा कि आपके अतिरिक्त और कोई उच्चकोटि का लेखक वहां उपस्थित न हो सका था।" उन्होंने उत्तर दिया: "यह हो सकता है, पर क्या केवल उच्च कोटि के लेखकों की रचनाओं से साहित्यिक स्तर की आम प्रगति की माप करनी होगी? औसत स्तर को जानने के लिये साधारण लेखकों की रचनाओं के स्तर की भी जानकारी आवश्यक है। यदि वह साधारण स्तर बहुत गिरा हुआ हो तो औसत स्तर भी गिरा ही होगा।" उनकी यह बात मुझे बहुत जची।

उसके बाद उनसे मेरा मिलना न हो सका। पर उनकी साहित्यिक प्रगति में मैं बराबर दिलचस्पी लेता रहा। बाद में जब वह लखनऊ छोड़ कर बनारस में बस गये और वहां से 'हंस' का प्रकाशन करने लगे तब बीच-बीच में मुझे 'हंस' में लिखने के लिये आमन्त्रित करते रहे। उनके सम्पादक-काल में हंस में मेरे दो-तीन लेख छपे भी थे। कलकत्ते के लम्बे निर्वासन से मुक्त होकर प्रयाग आकर ठीक से बस भी न पाया था कि एक दिन सहसा उनकी मृत्यु का समाचार सुनकर मर्माहत हो गया। उस समय ऐसा लगा कि हिन्दी साहित्य के भाग्य का सितारा सदा के लिये अस्त हो गया। उनकी मृत्यु के बाद मुझे 'गोदान' पढ़ने को मिला था। हिन्दी के उस अत्यन्त महत्वपूर्ण महाकाव्य को पढ़ कर मुझे लगा कि प्रेमचन्द जी के आविर्भाव के समय हिन्दी साहित्य के उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में मैंने जो कल्पना की थी उसकी पूर्ण पूर्ति हो गयी।

आज हमारी नयी पीढ़ी के साहित्यकार प्रेमचन्द को केवल एक ऊंचे दरजे के कलाकार के रूप में जानते हैं। उनका मनुष्यत्व उनकी कला से भी

कितना अधिक महान था, इस बात का परिचय केवल उन्ही लोगो को है जो उनके जीवन काल मे उनके घनिष्ठ सम्पर्क मे आने का सौभाग्य पा चुके थे। अपनी रचनाओ मे उन्होने जिन दलितात्माओ के निर्यातित जीवन का सजीव चित्राकन किया है उनके प्रति उनकी केवल मौखिक सहानुभूति नही थी; वह अपनी उस सहानुभूति को अनेक बार वास्तविक जीवन में, व्यावहारिक रूप मे व्यक्त करके हमारे साहित्यकारो के लिये एक महान आदर्श छोड गये है। कला की मार्मिक अनुभूति का वास्तविक मूल्य यहीं पर है। उन्होने स्वय अपने जीवन मे जिन कष्टो का अनुभव किया उनसे उन्होने समाज के पीडितो को यथार्थ रूप मे समझने में सहायता पाई। और केवल समझ कर और कला के माध्यम से उस पीडन की अभिव्यक्ति करके ही वह चुप नही रहे, बल्कि अपनी घोर आर्थिक सकट की दशा मे भी वह विभिन्न परिस्थितियो मे पडे हुए परिचित अथवा अपरिचित व्यक्तियो को यथासभव आर्थिक सहायता पहुचाने के लिये सदा उद्यत रहते थे, ऐसा मैंने उन लोगो से सुना है जिन्होने उनसे सहायता पायी थी। हिन्दी जगत के घोर स्वार्थपूर्ण वातावरण की सकीर्ण मनोवृत्ति को ध्यान मे रखते हुए जब मै प्रेमचन्द जी के इस उदार मनुष्यत्व की सहृदयता पर बिचार करता हू तब मेरे हृदय मे विह्वल श्रद्धा गद्‌गद होकर उमड उठती है।
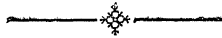
जीवन विजयिनी महादेवी

सन् '२३ या '२४ की बात है। स्वर्गीय श्री रामरख सिह सहगल तब 'चाद' को जमाने के प्रयत्न मे पूरे परिश्रम से जुटे हुए थे। तब तक उन्होने 'चन्द्रलोक' नहीं बसाया था और अहियापुर की एक गली मे वह रहते भी थे और वही उनका कार्यालय भी था। वह एक सुयोग्य सहकारी सपादक की खोज मे थे। मेरी उम्र तब केवल बाईस बर्ष की थी और मैं न अनुभवी था न सुयोग्य। फिर भी साहस करके उनके पास पहुँचा और अपने ज्ञान और अज्ञान का थोडा परिचय मैंने उन्हे दिया। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब वह कुछ ही देर की मुलाकात मे मुझसे प्रसन्न हो गये और मुझे उन्होने नियुक्त कर लिया। मुझे संपादन का सारा काम सौपते हुए उन्होंने प्रकाशन के लिये आयी हुई सारी सामग्री मेरे पास रख दी और कहा कि काम की चीजे रख लूँ, शेष वापस कर दूँ।

मैंने एक-एक करके सभी चीजो को पढना आरम्भ किया। उन्ही में एक विशेष कविता मेरे हाथ लगी। उसमे कवयित्री का नाम लिखा था : महादेवी वर्मा। मैंने ध्यानपूर्वक कविता को पढा। कविता मुझे इतनी अच्छी लगी कि मुझे विश्वास ही नही हुआ कि वह किसी नारी की रचना हो सकती है। उस जमाने मे हिन्दी-जगत् मे स्त्री-लेखिकाएँ इनी-गिनी थी और जो थी वे भी केवल गार्हस्थिक विषयो पर सीख देने तक ही अपनी रचनाओ को सीमित रखती थी। कविता तो तब शायद ही कोई स्त्री लिखती हो। स्त्रियो के नाम से तब जो भी कविताएँ छपती थी उनके सम्बन्ध मे यह धारणा लोगों मे प्रचलित थी कि वे पुरुषों द्वारा लिखी गयी हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से इस तरह के दृष्टान्तो से परिचित था। एक महाशय ने मुझे बताया था कि वह जब अपने नाम से कोई कविता लिखकर किसी पत्र मे छपने के लिये भेजते हैं तब उनकी रचना वापस लौट आती है, पर जब वह किसी स्त्री के नाम से भेजते हैं तब निश्चित रूप से छप जाती है।

जो भी हो, मैं जब महादेवी वर्मा के नाम से छपी हुई कविता पढ़कर अत्यन्त प्रभावित हुआ तब मैंने सहगल जी से कहा: "यह कविता तो बहुत सुन्दर है। पर इसके रचयिता के स्थान में एक महिला का नाम लिखा हुआ है। इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं? क्या आप इस कविता को वास्तव में एक महिला की रचना मानते हैं?" उन्होंने कहा : "मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि यह एक १७ साल की लड़की की लिखी हुई कविता है। उस लड़की मे प्रतिभा के बीज हैं, और जहा तक मेरी जानकारी है, वह कविता लिखने में किसी भी पुरुष की सहायता नहीं लेती।"

सहगल जी ने जिस निश्चयात्मक रूप से वह बात कही उससे मैं बहुत प्रभावित हुआ। वह पहला ही अवसर था जब मैं किसी स्त्रीनामधारी छद्मपुरुष की कविता नहीं, बल्कि सचमुच एक नारी द्वारा लिखी गयी कविता पढ़ रहा था—और वह भी इतनी सुन्दर कविता! मैंने पूरे उत्साह से उस कविता को कपोज के लिये भेज दिया और तब मे इस बात के लिये उत्सुक रहने लगा कि महादेवी वर्मा के नाम से लिखी गयी और भी कविताएँ पढ़ने को मिलें।

दुर्भाग्य से 'चाद' से मेरा सम्बन्ध अत्यल्प काल के लिये रहा। मेरा तत्कालीन चंचल मन नौकरी का बधन अधिक समय तक स्वीकार न कर सका, और मैं आवारा लोगो का सा जीवन बिताता हुआ एक स्थान से दूसरे स्थान मे निरुद्देश्य भटकता रहा। हिन्दी साहित्य की सामयिक गति-विधियों से भी पूरा परिचित होने का सौभाग्य मुझे नही मिल पाता था। फिर भी, महादेवी वर्मा के नाम से छपी हुई कविताएँ महीनो—कभी-कभी वर्षों—के अन्तर से मेरी नजर मे आ जाती थी। और जब भी मै उनकी कोई कविता पढ़ता तभी मेरे मन और मस्तिष्क के तार एक विचित्र अनुभूति के कपन से थरथरा उठते थे। वह कपन आनन्दमूलक होता था या विषादमूलक, या रहस्य-भावनात्मक, इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित धारणा मुझे नहीं है, पर वह निश्चय ही असाधारण होता था, जो मुझे कुछ समय के लिये दैनन्दिन जीवन की साधारण अनुभूतियो से बहुत दूर खीच लेता था। उन कविताओं

में एक निराली भावात्मकता के अतिरिक्त सूक्ष्म बौद्धिक अनुभूतियो का भी आभास मुझे मिलता था। इसलिये न चाहने पर भी बीच-बीच मे फिर यह संदेह मेरे मन को हलकी-सी गुदगुदी देने लगता कि उनकी वास्तविक रचयिता महादेवी न होकर कोई 'महादेव' तो नही हैं ? पर फिर सहगल जी की बात याद आ जाती और मैं मन ही मन विस्मय से विभ्रमित होकर अपने सदेह को दबा देता। मेरे सदेह का सुस्पष्ट कारण यह था कि हिन्दी-जगत की नारी के तत्कालीन औसत बौद्धिक स्तर से मैं भलीभाति परिचित था। महादेवी वर्मा के नाम से छपने वाली कविताओ का बौद्धिक स्तर इतना ऊँचा मुझे लगता था जो तत्कालीन पुरुष कवियो के भी बौद्धिक स्तर से केवल होड ही नही लेता था, बल्कि कभी कभी उनसे भी ऊँचा उठा हुआ होता था। इसलिये मेरा सदेह स्वाभाविक था और उसके लिये मैंने अपने को कभी दोषी नहीं पाया है। यह ठीक है कि सहगल जी की बात के बाद फिर संदेह का कोई कारण नहीं रह जाना चाहिये था। पर यह भी तो संभव था कि सहगल जी भी 'विशफुल थिंकिंग' वश भ्रम से यह विश्वास करने लगे हो कि वे कविताएँ किसी नारी की ही मौलिक रचनाएँ हैं !

अन्त मे दो ऐसे व्यक्तियो से इस सम्बन्ध मे मेरी बाते हुई जो व्यक्तिगत रूप से महादेवी जी से परिचित थे और जिन पर स्वय मेरी बडी आस्था थी। उन लोगो ने बताया कि महादेवी जी ने स्वयं, बिना किसी की सहायता के, उन कविताओ को लिखा है जो उनके नाम से छपी हैं। इस निश्चित जानकारी से कि जिन कविताओ से मैं इतना अधिक प्रभावित हुआ हू वे सचमुच में एक साकार और सप्राण नारी की रचनाएँ हैं, मैं, न जाने क्यों, अत्यन्त गर्व का अनुभव करने लगा। उस समाचार से मुझे लगा कि हिन्दी के एक साहित्यकार के नाते केवल मेरे गोत्र ही में वृद्धि नही हुई वरन् हिंदी-साहित्य का गौरव भी अभूतपूर्व और अप्रत्याशित रूप से बढ़ने जा रहा है। क्योंकि मेरे मन में यह विश्वास तभी जम गया था कि महादेवी जी की निराली रहस्यात्मिका और रसात्मिका अनुभूति से प्रेरित और गहन-गंभीर बौद्धिक रस से अभिषिक्त रचनाएँ केवल अशिक्षान्धकार से ग्रस्त भारत के

लिये ही नहीं, बल्कि विश्व के शिक्षित नारी-समाज के लिये भी अत्यन्त महत्त्व की होगी।

उसके बाद समय के अन्तर से महादेवी जी की कविताएँ संग्रह-रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित होती गयी। 'नीहार', रश्मि' और 'नीरजा' की कविताओ का अध्ययन संगृहीत रूप में करने पर उस अविश्वसनीय रूप से आश्चर्यमयी प्रतिभाशालिनी कवयित्री के गहन और साथ ही विराट व्यक्तित्व का परिचय मुझे अधिक घनिष्ठ रूप से मिला। यहा पर एक बात सचाई के खयाल से बता दूँ कि मैं प्रारम्भ ही से बहुत ही कडा आलोचक रहा हूँ और ससार के बडे से बडे और प्रसिद्ध से प्रसिद्ध कवि अथवा लेखक की किसी भी रचना को कभी पूरे का पूरा, अनालोचित भाव से मन के गले के नीचे नहीं उतार पाया हू। कालिदास से लेकर शेक्सपीयर तक और गेटे से लेकर रवीन्द्रनाथ तक, सभी महाकवियो और महालेखको की रचनाओं में, अपने दृष्टिकोण से मुझे जो त्रुटिया मिली हैं वे उनकी रचनाओं की अपूर्व रसमयता का आस्वादन करते समय भी मेरे मन में किरकिराती रही हैं। उसी तरह महादेवी जी की कविताओ का रस ग्रहण करते समय भी कई स्थानों में मेरा रसभग हुआ है। पर उस रसभग मे भी मुझे विश्राम मिला है, जिससे रस के गहरे स्थलो में मैं और अधिक तन्मयता से डूब सका हूं। यदि बीच-बीच में रसभग के वे स्थल न होते तो सभवत: मैं अत्यधिक भावुकतावश रस की गहराइयो में डूबा ही रह जाता। और रस में डूबने का सच्चा सुख तभी है जब बिहारी के कथनानुसार उसमे पूर्णत: मग्न होने के बाद उतरा भी जा सके।

महादेवी जी की अपेक्षाकृत प्रारम्भिक कविताओ मे ही मुझे एक ऐसे महान् व्यक्तित्व का आभास मिला जो केवल रसमय या भाव-विह्वल ही नहीं था, बल्कि जिसकी भाव-वेदनात्मक अनुभूतियाँ गहन और व्यापक चिन्तन के ठोस आधार से सुसचालित और सुनियमित थीं। उनकी प्रारम्भिक रचना 'नीहार' ही मे स्थान-स्थान पर मुझे उनके ऐसे गहन भावात्मक व्यक्तित्व का परिचय मिला जिन्हे पढ़कर मेरा गर्वीला मस्तक बार-बार गंभीर चिन्तन में

मग्न हो-होकर झुक-झुक जाता था। जो नारी अपने अपेक्षाकृत अपरिपक्व वय मे परिपूर्ण आत्म-विश्वास के साथ यह कह सकती थी कि—

अपने इस सूनेपन की
मैं हू रानी मतवाली,
प्राणो का दीप जलाकर
करती रहती दीवाली!

उसका व्यक्तित्व कदापि साधारण नही हो सकता, यह अनुभव मुझे तभी हो चुका था। मैं मानता हूं कि यह घोर व्यक्तिवादी उक्ति है, पर विचारणीय विषय यह है कि अपनी व्यक्तिवादिता में भी वह व्यक्तित्व कितना गहरा, कितना अथाह है! भीतर परिपूर्ण सूनापन लिये हुए भी जो व्यक्तित्व उस निबिड शून्य की स्थिति का पूर्ण उपभोग, प्राणो का दीप जलाकर, एक रानी की तरह कर सकता है उसके सबंध मे आप और चाहे कुछ माने या न माने, इतना तो स्वीकार करेंगे ही कि वह किसी भी हालत में कोई साधारण छुईमुई का सा व्यक्तित्व नहीं, बल्कि जीवन की गहराइयो मे डूबा हुआ, ठोस विश्वासों पर आधारित व्यक्तित्व है।

हठीले प्राणों का यह गर्वीलापन—भयकर से भयंकर, क्रूर से क्रूर परिस्थितियो का सामना अन्तर-शक्ति द्वारा कर सकने का यह प्रचंड आत्मविश्वास, महादेवी जी की और भी बहुत सी प्रारम्भिक कविताओ में ही मुझे मिलने लगा था :

मेरी लघुता पर आती
जिस दिव्य लोक को व्रीडा
उसके प्राणो से पूछो
वे पाल सकेंगे पीडा?
उनसे कैसे छोटा है
मेरा यह भिक्षुक जीवन?
उनमें अनन्त करुणा है
इसमे असीम सूनापन।

(नीहार)

अपनी अथाह पीड़ा और अपने असीम सूनेपन पर इतना सहज अधिकारपूर्ण गर्व जिस नारी की प्रारम्भिक कविताओं मे ही झलक उठा उसके व्यक्तित्व का भावी विकास भी कैसा असाधारण होगा, इस कल्पना ने उसकी कविताओ के प्रति मुझे स्वभावत: और अधिक उत्सुक कर दिया। उन कविताओ से मुझे जीवन मे पहली बार एक ऐसी नारी का अप्रत्यक्ष परिचय मिला जो पूर्णत: भारतीय सस्कृति से ओत-प्रोत होने पर भी भारतीय नारी की परम्परागत छुईमुई की सी कल्पना से एकदम भिन्न पडती थी। जिस भारतीय नारीत्व की परम्परा का यथार्थ परिचय मैथिलीशरण जी ने इन सुन्दर शब्दो मे दिया है :

अबला नारी, हाय तुम्हारी यही कहानी।
आचल में है दूध और आखो में पानी॥

उससे 'नीहार' की कवयित्री के व्यक्तित्व का कोई भी मेल बैठा हुआ मैंने नहीं पाया। मैंने पाया उस नारी को जिसने आंसू अवश्य गिराये हैं, पर जिसने साधारण अबला नारियो की तरह अपने जीवन को आसुओ के रूप मे गला नही दिया, बल्कि जिसने अपने अन्तर के भी अन्तर से अश्रु-भाडार की छलकन के रूप में बाहर निकल पडने वाले आसुओ को ठढे मस्तिष्क से, शान्त चित्त से मोतियों की तरह सॅजोकर उन्हे जीवन की कठोर पीडामूलक परिस्थितियों के नियन्ता को (यदि कोई ऐसा नियन्ता है तो) सगर्व उपहार-स्वरूप भेंट किया है—स्वय उस पर अहसान लादने के लिये! मैं तब से बराबर यही सोचता रहा हू कि वह कितनी बडी शक्ति होगी जिसकी प्रेरणा से इतना महत् साहस इस विजयिनी को सहज ही—बिना किसी कष्ट–कल्पना या कृत्रिम चेष्टा के—हुआ! परम्परागत दलित और शोषित नारीत्व की इतनी बडी प्रमाण-सिद्ध विजय का झडा जिस कवयित्री ने विश्व-साहित्य के इतिहास में पहले पहल गाडा उसके प्रति मेरा गर्वीला पुरुष-हृदय जो सहज ही झुक गया उस कल्पना से मैं आज भी रह-रहकर पुलकित हो उठता हू। उसे मैंने कभी अपने लिये ग्लानि का कारण नही माना है।

'नीरजा' में महादेवी जी की कविता का विकास 'नीहार' और 'रश्मि' की अपेक्षा कई गुना अधिक सुन्दर, सजे हुए और परिपक्व रूप से उभर

आया। जब उनसे पहली बार मेरा व्यक्तिगत परिचय हुआ तब उनका 'सांध्यगीत' प्रकाशित हो चुका था। प्रारम्भ में उनके बाहरी व्यक्तित्व से उनकी कविताओ मे अभिव्यक्त अन्तर्व्यक्तित्व का मेल बिठाने में मुझे कठिनाई का अनुभव हुआ। कारण यह था कि महादेवी जी अपने हास्य द्वारा अपने अन्तर की गहन भावात्मकता को छिपाने की कला मे पारंगत हैं, इस तथ्य से तब मैं परिचित नहीं था। धीरे-धीरे जब मैं उनके निकट सम्पर्क मे आता गया तब उनके बाह्य व्यक्तित्व में भी उनके भीतरी व्यक्तित्व के अतल गाम्भीर्य की झलक मुझे दिखायी देने लगी। और एक दिन वह आया जब उनके भीतरी और बाहरी व्यक्तित्व के बीच का पर्दा मेरी आखों के आगे से एकदम हट गया और मैंने पाया कि उनका जीवन ही वह कविता है, जिसकी रचना उन्होने की है, और उनकी काव्य-साधना ही वह जीवन है जिसका सुसामजस्यपूर्ण निर्माण उन्होने यथार्थ की कठिन और कठोर पृष्ठ-भूमि में स्वय अपने हाथों से किया है।

'साध्यगीत के प्रकाशन द्वारा वह न केवल कवयित्री के रूप में बल्कि चित्रकर्त्री के रूप में भी हिन्दी-ससार के सामने आयी। तब तक उनकी चित्रकला का कोई आभास किसी को नही मिला था। अचानक ही यह बात सब के आगे प्रकट हुई कि वह जितनी ही श्रेष्ठ कवयित्री हैं उतनी ही कुशल चितेरी भी। उनका एक-एक चित्र अपने-आप मे एक महान कविता है। अन्तर्जगत् के अस्फुट चेतनात्मक आभासो मे निहित उदात्त भाव-छायाओं के जो समूर्त रूप उन्होने विविध स्वप्न-रगो की सहायता से अपने चित्रों द्वारा प्रस्फुटित किये हैं वे सचमुच अपूर्व सुन्दर हैं। तब 'विजनवती' नाम से मेरा एक कविता-सग्रह प्रकाशित हो रहा था। महादेवी जी की चित्रकला से अत्यन्त प्रभावित होकर मैंने अपने उस कविता-सग्रह का आवरण-पृष्ठ तैयार कर देने की प्रार्थना उनसे की। उन्होने सहज भाव से मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। और केवल दो सजीव और सप्राण फूलो के चित्रण द्वारा एक ऐसी अनिर्वचनीय रहस्यात्मकता प्रस्फुटित कर दी जिसे केवल अनुभव ही किया जा सकता है और जिसका वर्णन और विश्लेषण

संभव नहीं है। सारी पुस्तक में केवल वह चित्र ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होकर रहा। कविताए सब एकदम पृष्ठभूमि मे चली गयी।

'साध्यगीत' की कवयित्री को मैंने नये सिरे से समझने का यत्न किया—उस कवयित्री का जो अपने जीवन को साध्यगगनमय मान चुकी थी, और जिसके जीवन मे सन्ध्या की तरह ही एक स्निग्ध शान्ति धीरे धीरे व्याप्त होती चली जा रही थी—केवल ३० ही वर्ष की अवस्था मे! मैंने देखा कि महादेवी जी के काव्य और चित्र-शैली मे पूर्ण परिपक्वता आ जाने पर भी अधिकाश कविताए और चित्र अभी तक आसुओ से धुले थे।

तब क्या उनके जीवन का आँसुओ वाला रूप ही सच्चा है? मैंने सोचा। क्या वह भी उन्ही नारियों मे से हैं जो अपनी अन्तर्पीडा के भीतर इस कदर डूब चुकी हैं कि उनके चारों ओर केवल अश्रुसागर ही लहराता रहता है, और जिनमे उस सागर से उबरने की न तो शक्ति है न प्रवृत्ति? या फिर उनके वे आसू वास्तविक नही, नकली हैं—केवल कोरी काव्य-कल्पना हैं? गहरे अध्ययन के बाद फिर मेरे मन मे वही धारणा बद्धमूल हो गयी जो पहले घर कर चुकी थी। वह यह कि उनके आँसू नकली नही सच्चे हैं, पर वे दुर्बलताजनित नहीं, शक्ति-जनित करुणा से निकले हुए आँसू हैं, जिन पर किसी भी वीरागना को गर्व हो सकता है। वे यथार्थ जीवन की दयनीय विवशता से बहुत ऊपर उठी हुई महिमामयी के आसू हैं। उन आसुओ का उन्हे बड़ा मोह है। उन आंसुओ की भेंट का अधिकारी जीवन का कोई बिरला ही महान साधक हो सकता है:

जिन प्राणो से लिपटी हो
पीडा सुरभित चन्दन सी
तूफानो की छाया हो
जिसको प्रिय-आलिंगन-सी,
जिसको जीवन की हारें
हो जय के अभिनन्दन सी
वर दो यह मेरा आँसू
उसके उर की माला हो!

जिस वीर नारी के जीवन का आदर्श पीडा को सुरभित चन्दन के रूप में ग्रहण करने, तूफानो की छाया को प्रिय-आलिंगन की तरह स्वीकार करने और जीवन की हारो को जय के अभिनन्दन की तरह वरण करने का हो उसके आँसू कदापि किसी निराशावादिनी अबला नारी के असहाय आँसू नहीं हो सकते।

मैंने गहरी खोज के बाद यह पाया कि महादेवी जी के भीतर के भावोद्वेलन की तुलना उस बाढ से नही की जा सकती जो अपने सारे वातारण को जल-मग्न कर देती है, वरन उस तीव्र वेगशील निर्झर की खर-धारा से की जा सकती है जो दुर्गम पर्वत की चट्टानी गुहाओ को विदारकर, अपने आगे की सारी कठोर से कठोर बाधाओ को दूर कर, अपने लिये स्वय रास्ता काटती और बनाती हुई निरन्तर आगे की ओर बढी चली जाती है। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में भी वह जैसे सुदूर महासागर का आह्वान सुनती है और उसी महालक्ष्य की ओर बढने के उद्देश्य से सतत प्रयत्नशील रहती है। पहाड़ पर से नीचे उतरती हुई वह निर्झर-धारा नदी मे परिवर्तित होकर अपने दोनों कूलो को सुन्दर फूलो और तृण-लताओ से आच्छादित करती हुई चली जाती है। नीचे मैदान मे उतरने के बाद उसके शस्यश्यामल कूलों का क्षेत्र बहुत बढ़ जाता है। उसमे जीवन तत्त्वो को बिखेरने की शक्ति भी बहुत अधिक बढ़ जाती है। प्यासो को पानी देती हुई और भूखो के भोजन का प्रचुर प्रबन्ध करती हुई भी वह अपने लक्ष्य को एक क्षण के लिये भी नही भूलती, और पथ के सहस्रो चक्करो मे अपने को उपयुक्त रूप से मोडती हुई अपनी विशिष्ट पथ-रेखा का निर्माण स्वय ही करती जाती है।

महादेवी जी की काव्यधारा की तरह ही उनका व्यक्तित्व भी है। किन्हीं वाह्य परिस्थितियो की विवशता ने उसका निर्माण नही किया, बल्कि उन्होंने स्वय परिस्थितियो को अपने महान् व्यक्तित्व के विकास के अनुकूल बनाया है। इस महानारी के इस महापुरुषार्थ पर मैं जितना ही विचार करता हूँ उतना ही अधिक आश्चर्य में डूबता जाता हूँ। उनके जीवन का यह प्रकट विरोधाभास केवल एक रहस्यपूर्ण पहेली ही नही है, बल्कि जीवन की जटिल गुत्थियों की सुलझाने की एक जादुई कुजी भी है। उनके जीवन

का यह ऊपरी विरोधाभास जीवन के मूलगत वैषम्यो के बीच के सामजस्य का एक आश्चर्यजनक सूत्र है। एक ओर उनके नारी-सुलभ सुकुमार और सुकोमल हृदय से निकले हुए वेदना-विकल अश्रु उनके कविता-कुसुमो मे तुहिन-कणो की तरह चमकते रहते हैं, दूसरी ओर उनकी विद्रोही आत्मा से निकलते हुए अगारे प्रलयकाल की-सी फूलझडिया जलाने लगते हैं, एक ओर वह नीहारमय हैं तो दूसरी ओर प्रज्वलित दीपशिखा की प्रतिमूर्ति, एक ओर वह नीर-भरी दुख की बदरी हैं तो दूसरी ओर

शलभ मै शापमय वर हूँ
किसी का दीप निष्ठुर हूँ।

इन दोनो मूलतः परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियो को—नीहार और दीप, जल और ज्वाला के मूल तत्त्वो को—एक सामजस्य के सूत्र मे बाध सकने की कला किसी प्रकार भी साधारण नही हो सकती। वह अत्यन्त असाधारण और दुरूह है। और महादेवी जी के विराट व्यक्तित्व की विशिष्टता यही पर है कि इस दुरूह कला को उन्होंने अपने साहित्य और जीवन दोनो मे सहज-साध्य बना लिया है। इसीलिये मेघ की बूँद के लिये विकल भोले-पपीहे को उलाहना देती हुई वह लिखती हैं :

चपल बन-बन कर मिटेगी झूम तेरी मेघमाला
मै स्वय जल और ज्वाला
दीप सी जलती न तो
यह सजलता रहती कहा!

एक ओर वह निपट दैन्य-भरी करुण भावुकता के वशीभूत होकर अपने सम्बन्ध मे अत्यन्त निराश स्वर मे कहती हैं कि "उमडी कल थी मिट आज चली," तो दूसरी ओर कठोर और उत्तुग हिमालय की विराट साधकता को छूने और उसकी अथाह करुणा की थाह नापने का दम भरती हैं :

तन तेरी साधकता छू ले
मन ले करुणा की थाह माप।

तभी वह अन्तर और बाह्य जीवन के शत-शत सघर्षो, सहस्रो आघातो के पीड़न से कभी झुकी नहीं हैं। उस पीड़न को पूर्णतः अपने वश मे करके,

उसके ऊपर उठकर, उन्होंने नाश-पथ पर अमरता का, मृत्यु पर जीवन की विजय का घोष सुनाया है। यही कारण है कि भावात्मक रस-विह्वलता को अपनाने पर भी उन्होंने जीवन की कठोर सघर्पशील यथार्थता को कभी अस्वीकार नही किया :

जाग तुझ को दूर जाना !
बाँध लेंगे क्या तुझे यह मोम के बन्धन सजीले ?
पथ की बाधा बनेंगे तितलियो के पर रगीले ?
विश्व का क्रदन भूला देगी मधुप का मधुर गुनगुन ?
क्या डुबा देंगे तुझे यह फूल के दल ओस-गीले ?
तू न अपनी छाह को अपने लिये कारा बनाना !

महादेवी जी का व्यक्तित्व इतना गहन और महान है कि उसका जितना ही अध्ययन किया जाय, जितना ही विश्लेपण करने का प्रयत्न किया जाय, उतना ही वह अधिक रहस्यमय और विश्लेपण के अतीत लगने लगता है। जीवन की निर्मम से निर्मम परिस्थितियो द्वारा लाख कुचले जाने पर भी कोमल हरी दूब की तरह कभी न कुचला जा सकने वाला, लाख प्रहारो के बाद भी इस्पात से भी कठिन धातु की तरह कभी न झुकाया जा सकने वाला उनका अश्रुधौत व्यक्तित्व आज के विश्वव्यापी निराशा के युग मे भी ललकार कर पुकार उठता है :

और होंगे चरण हारे,
अन्य हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे,
दुखव्रती निर्माण उन्मद
यह अमरता नापते पद;
बाँध देंगे अक-ससृति से तिमिर मे स्वर्ण वेला !

महादेवी जी विश्व-पुरुष के लिये एक पहेली भी हैं और चुनौती भी। युग-युगो से नारी-आत्मा को पुरुष अपने अहम् की चरितार्थता के लिये कुम्हार की गीली मिट्टी की तरह पैरो से रौंदता और हाथो से गूंदता हुआ स्वेच्छानुसार उसका निर्माण और नाश करता आया है; उसे अपने इच्छानुसार अपने

व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास करने का कोई अवसर उसने नहीं दिया है। उसी के फलस्वरूप नारी की सरल और तरल आत्मा में कण-कण और बिन्दु-बिन्दु करके अज्ञात रूप से सञ्चित होते रहने वाला विद्रोह आज संसार की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री के काव्य और व्यक्तित्व में प्रलय सागर के शत-शत फेनिल उच्छ्वासों की तरह उमड़ता हुआ और ज्वालामुखियों के सहस्रों तप्त श्वासों की तरह फुफकारता हुआ, कायर पुरुषात्मा को चुनौती दे रहा है। क्या युग-पुरुष उसे स्वीकार करने की समर्थता रखता है? आने वाला युग ही इसका सही उत्तर दे सकेगा।
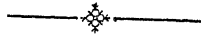
आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान

हिन्दी मे हम पहले-पहल सूरदास और तुलसीदास की कृतियो मे मनोवैज्ञानिकता का आभास पाते हैं। पर वे दोनो कवि बहुत से दृष्टिकोणो से महान् रचयिता होते हुए भी गहरे स्तर के मनोवैज्ञानिक चमत्कार नही दिखा पाए। फिर भी जिस मध्यम स्तर की मनोवैज्ञानिकता का निदर्शन उन्होने किया है वह उस युग की बौद्धिक जडता को देखते हुए कम प्रशसनीय नही है। उस जड मध्ययुग मे उन्होने मानव-मनोद्वेगो के जिस ज्ञान का परिचय दिया वह अठारहवी सदी के यूरोपियन कथाकारो की अपेक्षा अधिक उन्नत था। आधुनिक युग मे शरत्चन्द का मनोविज्ञान भी उनके आगे कहीं ठहर नही पाता। सूरदास ने राधा और कृष्ण के बाल्यकाल से आरंभ करके उनकी परिणत यौवनावस्था तक की प्रेम लीला का जो भावपूर्ण और मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है, वह इतना हृदयग्राही और मार्मिक है कि उसे देखते हुए शरत्चन्द्र की सारी विशेषताएँ फीकी जँचने लगती हैं। तुलसीदास ने रामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड मे मानव के स्वार्थ और परार्थ, प्रेम और घृणा तथा अन्तरात्मा की परस्पर-विरोधी उलझनो के सघर्ष और विघर्ष का जो मार्मिक और विस्फोटात्मक वर्णन किया है (जिसकी चरम परिणति भरत के चरित्र-चित्रण मे हुई है) वह मध्ययुग मे शेक्सपीयर और अठारहवी सदी के पाश्चात्य लेखकों के मनोवैज्ञानिक सघात-विघातात्मक चित्रण से किसी अश मे भी न्यून नही हैं, बल्कि अधिक उन्नत है—इसलिये कि उसका ध्येय उनकी तुलना मे अधिक कल्याणकारी है।

सूरदास और तुलसीदास के बाद रीतिकालीन कवियों ने मानव-मन के एकदम ऊपरी स्तर की छिछली रागात्मक प्रवृत्तियो के सारहीन स्वरूप का वर्णन किया और उसी मे उनकी शब्दजाल-पूर्ण कविता-कला की सारी चातुरी समाप्त हो गई। द्विवेदी-युग मे अन्तरविज्ञान के क्षेत्र मे कवियों और लेखकों का जैसे दिवाला ही निकल गया।

छायावाद के युग मे अन्तर्वैज्ञानिकता की ओर कवियो का झुकाव फिर से दिखाई दिया। पर इस युग मे मानव की अन्तर्प्रवृत्तियो के निरपेक्ष विवेचन और विश्लेषण के बजाय कवियो ने अपने मन के उद्वेगो का मुक्त उद्गार ही अधिक व्यक्त किया। छायावादी युग की कविताओ का मनोविज्ञान अपनी प्रारंभिक अवस्था मे था। इधर कुछ नवीन कवियो ने अपनी अति-प्राकृत (Surrealist) कविताओ मे जिस कोटि की मनोवैज्ञानिकता का परिचय दिया है वह वास्तव मे हिन्दी कविता के बहुत उज्ज्वल भविष्य की ओर सकेत करता है।

कथा-साहित्य के क्षेत्र मे द्विवेदी युग के समाप्ति-काल में प्रेमचदजी का आविर्भाव हुआ। प्रेमचद जी ने अपनी रचनाओ मे मनोविज्ञान को किंचित् प्रश्रय देने का प्रयास अवश्य किया, पर अव्वल मे जिस स्तर के मनोविज्ञान को वह प्रश्रय देना चाहते थे वह यो भी अत्यन्त छिछला और केवल ऊपरी सतह को छूने वाला था, तिस पर वह उस ऊपरी सतह के मनोविज्ञान को भी ठीक से अपना नहीं पाए। इसका कारण स्पष्ट था। वह मानव-जगत् के वाह्य सघर्षो से इस कदर प्रभावित थे, और उनके विवेचन मे इस हद तक उलझे हुए थे कि अन्तर्सघर्षो की ओर ध्यान देने का अवकाश ही उन्हे नहीं था। उनके समस्त उपन्यासो में अधिकतर वाह्य जीवन के आघात-प्रघातो के ही चित्रण मिलते है—अन्तर्प्रवृत्तियो के आधार से रहित। यही कारण है कि जिस उन्नत 'मिशन' को लेकर वह चले थे उसे वास्तविक अर्थ मे पूरा करने में वह एक प्रकार से असफल रहे। क्योकि उसी वाह्य जीवन-चक्र का चित्रण सच्ची सफलता प्राप्त कर सकता है जो अन्तर्जीवन-चक्र पर आधारित हो, उसी प्रकार अन्तर्जीवन की वही प्रगति श्रेयोन्मुखी हो सकती है जो वाह्य जीवन की प्रगति से निश्चित सम्बन्ध स्थापित किये हुए हो। वाह्य और अन्तर—दोनो जीवनो की प्रगतियाँ एक-दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रखती हैं। जो भी लेखक इन दोनो मे से किसी एक को अपना कर दूसरे की अवज्ञा करेगा उसकी एकागीयता निराधार और निरर्थक सिद्ध होगी। प्रेमचद जी ने ग्रामीण जीवन के चित्रण मे चाहे कैसी ही सफलता क्यो न पाई हो, और किसानो और जमीदारो का सघर्ष चाहे कैसी ही तीव्रता के

साथ अपनी रचनाओ मे प्रदर्शित क्यो न किया हो, इस ध्रुव, निश्चित और सुस्पष्ट सत्य को उनके स्वपक्षी आलोचक भी दबा नही सकते कि औपन्यासिक कला के चमत्कार-प्रदर्शन मे और जीवन के मार्मिक सत्यो के उद्घाटन मे वह असफल रहे। हिन्दी मे उनके समय तक उपन्यास-साहित्य प्रायः शून्य होने के कारण उन्होने बहुत बडे अश तक उसकी पूर्त्ति की, इसका श्रेय उनको है, और इसके लिये वह आदरणीय रहे है और रहेगे। पर आज भी, जब कि हिन्दी का उपन्यास-साहित्य लम्बी छलागे भर कर बहुत आगे बढ़ चुका है, यदि हम लोग उन्हे 'उपन्यास-सम्राट' आदि विशेषणो से विभूषित करते हुए उनमे उन गुणो का रोपण करते चले जावे जो उनमे नही थे, तो निकट भविष्य में यह मूर्खता वैसी ही हास्यास्पद सिद्ध होगी जैसी द्विवेदी युग के उन आलोचको की नासमझी छायावादी युग मे सब के आगे उपहास-योग्य प्रमाणित हो गई जिन्होने गुप्तजी की 'भारत-भारती' को काव्य-कला की एक अत्यन्त महान् कृति घोषित करने मे कोई बात उठा नही रखी थी। 'भारत-भारती' मे भी प्रेमचन्द जी को रचनाओ की ही तरह भारत की दुर्दशा का वर्णन करते हुए दलित और शोषित वर्ग की दुर्दशा के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गई थी। पर इस बात से आज सभी एकमत हैं कि यह रचना, श्रेष्ठ कला की किसी भी परिभाषा के अन्तर्गत नही आती और राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होने पर भी कला की दृष्टि से वह महत्वहीन है। स्वयं गुप्तजी के आगे यह बात बाद मे स्पष्ट हो गई थी, और इसीलिये उन्होने अपनी बाद की रचनाओं में ('साकेत', 'यशोधरा' आदि मे) मनुष्य के अन्तर्जीवन चक्र की प्रगति की उपेक्षा नहीं की। 'भारत-भारती' को इस समय जो साहित्यिक मूल्य प्राप्त है वही निकट भविष्य मे प्रेमचद जी की समस्त रचनाओ को मिलना अनिवार्य है, और तब स्वभावतः उन आलोचको की बुद्धि का भी मूल्याकन भावी साहित्यकारो के आगे सुस्पष्ट हो जावेगा जो प्रेमचद जी की आड़ मे उन नये उपन्यासकारों की निन्दा और उपहास करना अपना परम कर्तव्य समझे बैठे हैं जिन्होने प्रेमचद जी की तरह अन्तर्जीवन की प्रगति और मनोवैज्ञानिक सत्यो की उपेक्षा नही की है।

आधुनिक भारतीय साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की नींव बंकिमचन्द्र ने डाली थी। उनके अधिकांश उपन्यास सर वाल्टर स्काट की रचनाओं की तरह ऐतिहासिक घटना-चक्रों पर आधारित हैं, पर उनके तीन उपन्यास— 'रजनी', 'कृष्णकान्तेर उइल' और 'विषवृक्ष' मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। विशेष कर 'विषवृक्ष' में उन्होंने जिस कोटि के मनोविज्ञान का अवलम्ब ग्रहण किया है वह उन्नीसवीं सदी के पाश्चात्य लेखकों की श्रेष्ठ रचनाओं से टक्कर लेता है। अन्तर केवल यह है कि बंकिम ने व्यक्ति के अंतर्जीवन का समाज के बाह्य जीवन से संघर्ष दिखाकर दोनों के सामंजस्य का मार्ग निर्देशित किया है और उनके समसामयिक पाश्चात्य लेखकों ने केवल संघर्ष की तीव्रता दिखा कर ही अपना कर्तव्य पूरा हुआ माना है।

बंकिम के बाद रवीन्द्रनाथ की 'चोखेर बाली' (आँख की किरकिरी) में सब से पहले मनोविज्ञान आया है जिसकी चरम परिणति रवीन्द्रनाथ ने 'घरे बाइरे' में की है। 'चोखेर बाली में रवीन्द्रनाथ ने मनोविज्ञान के साथ केवल खेला है। इस उपन्यास में मनोविज्ञान न अपने गहरे रूप में आया है, न वह अपनी सार्थकता ही प्रमाणित कर पाया है। पर 'घरे बाइरे' ('घर और बाहर') में गहन मनोवैज्ञानिक सत्य उद्‌घाटित किये गये हैं और अन्तर्जीवन के साथ बाह्य जीवन के संघर्ष का चित्रण ऐसी कलात्मक मार्मिकता के साथ किया गया है जो उच्चकोटि की औपन्यासिक कला की प्रधान विशेषता है। पर उस संघर्ष को रवीन्द्रनाथ ने जीवन का एक मात्र सत्य नहीं माना है। सभी श्रेष्ठ आदर्शवादी कलाकारों की तरह उन्होंने उक्त संघर्ष के द्वारा जीवन के सामंजस्य का सूत्र पकड़ा है। उन्होंने बाह्य जीवन की उपेक्षा नहीं की है; पर अन्तर्जीवन से रहित जीवन को महत्व देना उनके समान वास्तविक अर्थ में महान कलाकार के लिये असम्भव था।

रवीन्द्रनाथ के बाद शरत्‌चन्द्र ने अपने कलात्मक आदर्शों के प्रस्फुटन में मनोविज्ञान का आश्रय ग्रहण किया। पर शरत्‌चन्द्र अपने मनोविज्ञान में बहुत सँभलने पर भी उलझ कर रह गए। मनोवैज्ञानिक पात्रों के चरित्र-चित्रण में जिस बौद्धिक निरपेक्षता की आवश्यकता है, उसका उनमें प्रायः अभाव था। फल यह देखने में आया कि उनके अधिकांश उपन्यासों के जो

नायक निरपेक्ष मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से अत्यन्त दुर्बल-चरित्र और समाजघाती उतरते हैं उनके प्रति उन्होने पूर्ण सहानुभूति प्रतिष्ठित करके उन्हे आदर्श रूप मे पाठको के आगे रखा है। यह कमी रवीन्द्रनाथ मे कभी नहीं रही। उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि जैसी पैनी रही है वैसी ही तीखी उनकी बौद्धिक निरपेक्षता भी रही है। यही कारण है कि क्या 'चोखेर बाली' मे और क्या 'घरे बाइरे' मे वह अपने प्रधान पात्रो के चरित्र-चित्रण मे कही नहीं उलझे।

आश्चर्य की बात है कि शरत् का जादू हिन्दी के आलोचको तथा पाठको पर व्यापक रूप से छा गया, किन्तु हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकार उस जादू के प्रभाव से एकदम मुक्त रहे। इसके विपरीत रवीन्द्रनाथ की औपन्यासिक कला का प्रभाव जिस हद तक हमारे कुछ विशेष उपन्यासकारों पर पडा उस हद तक हमारे आलोचको पर नही पड़ा। उदाहरण के लिये जैनेन्द्रजी की 'सुनीता' में रवीन्द्रनाथ के 'घरे-बाइरे' का प्रभाव सुस्पष्ट रूप से परिस्फुट है। 'घरे-बाइरे' का नायक निखिलेश जिस प्रकार अपनी पत्नी विमला की व्यावहारिक तथा मानसिक गतिविधि के प्रति उदार भाव रखता है और खतरा देखते हुए भी उसे पर्दे से बाहर निकालने में सक्रियता दिखाता है, उसी प्रकार 'सुनीता' का नायक श्रीकान्त भी अपनी पत्नी सुनीता के प्रति अत्यधिक उदार रहता है और उसे घर की तङ्ग चहारदीवारी से बाहर विश्व के मुक्त प्रागण मे स्वच्छन्द विचरने के लिये छोड़ देना चाहता है। जिस प्रकार 'घरे-बाइरे' मे क्रान्तिकारी सदीप विमला से घनिष्ठता बढ़ाता है और उसे केवल अपने दिल की रानी नही, बल्कि अपने दल की भी 'मक्खीरानी' बनाना चाहता है और निखिलेश उसमे सहायक होता है, उसी प्रकार 'सुनीता' में क्रान्तिकारी हरिप्रसन्न सुनीता को अपनी सब कुछ बनाने की इच्छा रखते हुए भी अपने दल के बीच मे भी उसे देवी के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता है; और सुनीता का पति श्रीकान्त सुनीता और हरिप्रसन्न के बीच की घनिष्ठता में सहायक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार विमला पतन के गढ़े मे गिरते-गिरते सँभल जाती है, उसी प्रकार सुनीता भी ऐन मौके पर केवल स्वयं सँभल नही जाती बल्कि हरिप्रसन्न को भी सँभाल लेती है।

पर यह सब होते हुए भी यदि कोई पाठक 'सुनीता' की मौलिकता में तनिक भी सदेह करे तो वह अपनी घोर अज्ञता का परिचय देगा। रवीन्द्रनाथ ने अपने पात्रो की मनोवैज्ञानिकता के केवल कुछ विशेष-विशेष पहलुओ को ही लिया है और बारीकियो को वह छोड़ते चले गए हैं। इसके अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ के पात्र उतने जटिल हैं भी नहीं जितने जैनेन्द्र जी के। निखिलेश, विमला और संदीप क्रम से श्रीकान्त, सुनीता और हरिप्रसन्न से ऊपरी साम्य रखते हुए भी दोना पक्ष मन की गुत्थियो और जटिलताओं में एक दूसरे से बहुत दूर पड़ जाते हैं। रवीन्द्रनाथ के पात्रो की जटिलता मनोवैज्ञानिक उतनी नहीं है जितनी कि सैद्धातिक। उनके प्रत्येक पात्र के जीवन के कुछ सिद्धान्त स्थिर और निश्चित बने हुए हैं। जैनेन्द्र जी के पात्रो के भी किसी हद तक अपने कुछ निश्चित सिद्धान्त हैं, पर साथ ही उनके मन की गुत्थियाँ बहुत ही अधिक उलझी हुई हैं। अपने पात्रो की उन जटिल गुत्थियो को सुलझाने की जो दिक्कत जैनेन्द्र जी को पड़ती है वह रवीन्द्रनाथ को नहीं पड़ती। जैनेन्द्र जी की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि उन्होंने उन जटिल गुत्थियो को बड़ी सफाई के साथ सुलझाने की चेष्टा की है और पूरी नहीं तो काफी हद तक उसमे सफलता पाई है। हरिप्रसन्न जैसे अज्ञेय और गुमसुम व्यक्ति के मन के गहनतम स्थान मे दबी पड़ी उलटी-सीधी प्रवृत्तियों की जटिल और कुटिल गाँठो को एक-एक कर सुलझे हुए रूप मे पाठको के आगे रखना किसी साधारण योग्यता वाले लेखक के बूते की बात नहीं है। यही बात सुनीता के समान जटिल-प्रकृति नारी के रहस्यमय मनोजाल के उद्घाटन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। साथ ही वह बात भी ध्यान देने योग्य है कि रवीन्द्रनाथ का सदीप extravert (बहिरोन्मुख) है और जैनेन्द्र जी का हरिप्रसन्न introvert (अंतरोन्मुख)। दोनो मे यह मूलगत अतर है। इन सब कारणो से दोनों उपन्यासो मे ऊपरी साम्य देखकर पाठको को भ्रम मे नहीं पड़ना चाहिये।

'सुनीता' मे जैनेन्द्र जी का वही उद्देश्य रहा है जो किसी भी श्रेष्ठ कलाकार का रहना चाहिये। इनके पात्र अतर्जगत् में भटकते हुए बहिर्जगत् मे अपने विकास का पथ खोजते हैं। दोनों के बीच संघर्ष चलता है और

अन्त में दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण कर वे जीवन में सामंजस्य का सूत्र पकड़ने की ओर उन्मुख होते हैं। जैनेन्द्रजी की मनोवैज्ञानिकता की सार्थकता इसी बात पर है।

उपन्यास-कला में मनोवैज्ञानिकता का एक और उद्देश्य माना जा सकता है—जो प्राचीन ग्रीक पंडित अरस्तू का भी मत रहा है। वह उद्देश्य यह है कि कलाकार अपनी रचना मे प्रचड आतक और मार्मिक करुणा का वातावरण उत्पन्न करके अपने पात्रो के मनोविकारो के क्षालन (और स्वभावतः उन्नतीकरण) के साथ ही पाठको के मन पर भी वही प्रभाव डालता है—अर्थात् उनके भी अपने मनोविकारों के क्षालन और उन्नतीकरण में सहायता पहुँचाता है। जैनेन्द्रजी की 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' की निर्मम मनोवैज्ञानिकता इसी कारण सार्थक है, और उनका उद्देश्य सकीर्णप्राण 'मनोवैज्ञानिक' आलोचक की छिद्रान्वेषी हीन दृष्टि को भले ही समाजघाती लगे, पर वास्तव मे वह कल्याणोन्मुखी है। 'कल्याणी' दरअसल 'कल्याणी' है, पर उसके भीतर निहित कल्याणीयता की खोज के लिये वास्तविक अर्थ मे निरपेक्ष मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और साथ ही स्वस्थ और सबल साहित्यिक सप्राणता होनी चाहिये, नहीं तो क्षीणप्राण छिद्रान्वेषी आलोचक उसमे विनाश और वीभत्सता के अतिरिक्त और कुछ नही देख पावेगा।

कुछ आलोचको ने आधुनिक मनोविज्ञान के व्याकरण का किंचित ज्ञान प्राप्त कर लिया है और अपने उसी अधूरे व्याकरण-ज्ञान से दुर्विदग्ध होकर उन्होंने अपनी संकुचित दृष्टि से जैनेन्द्र जी की मनोवैज्ञानिक रचना की छानबीन की है और उन्हे समाजघाती तथा अकल्याणकारी बताया है। मनोविज्ञान के इन अधकचरे प्रूफरीडरो को इस बात का पता नही है कि कोई भी प्रतिभाशाली कलाकार किसी भी मनोविज्ञान-स्कूल के व्याकरण का अनुगमन नहीं करता, बल्कि उलटा मनोविज्ञान उसके गहन जीवन-संबंधी अनुभवों के अनुसार अपने निर्णयो मे सुधार करता रहता है।

जैनेन्द्र जी वास्तविक अर्थ मे हिन्दी के प्रमुख मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। उन्होने हिन्दी साहित्य की निर्जीव औपन्यासिकता मे (जिसमे या तो किसानो तथा जमींदारो के बीच संघर्ष दिखाने वाले निर्जीव कठपुतलो का खेल

दिखाया जाता था या काव्य-जगत के अवास्तविक जीवों के 'स्वर्गीय प्रेम' का स्वाग भरा जाता था) सप्राण और अन्तर्संघर्षशील पात्रो की सजीवता भर दी ।

जैनेन्द्र जी के बाद हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास क्षेत्र में अज्ञेय जी का नाम लिया जा सकता है । अज्ञेय जी की 'शेखर: एक जीवनी' दो खंडों में प्रकाशित हुई है । वास्तव मे उपन्यास के पारिभाषिक अर्थ में इस रचना को उपन्यास नही कहा जा सकता। यह जीवनी, उपन्यास और दर्शन के बीच की कोई चीज है । प्रथम खंड मे अक्सर एक-एक, दो-दो पैरा के बाद नया प्रकरण आरम्भ हो जाता है, और अधिकाश स्थलो में प्रत्येक प्रकरण अपने आप में समाहित-सा लगता है और बहुत से स्थलो में उन छोटे-छोटे स्वतन्त्र प्रकरणो में मूल 'जीवनी' सबन्धी कोई बात कही जाने के बजाय लेखक ने अपने स्वतन्त्र दार्शनिक-विचार सबधी उद्‌गार प्रकट किए हैं । दूसरे खंड में कुछ सबद्धता अवश्य पाई जाती है, पर खडित प्रकरणो से वह भी अछूता नहीं है ।

यह सब होते हुए भी हमने 'शेखर' की गणना मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में इन कारणो से की है—एक तो यह कि जब तक इस कोटि की मिश्रित रचना का कोई निश्चित और स्वतंत्र नामकरण नही हो जाता तब तक उसे उपन्यास कहना ही होगा, दूसरे उसकी समग्रता को यदि लिया जाय तो मानना होगा कि लेखक ने अपने नायक के चरित्र का विकास मूलतः मनोवैज्ञानिक आधार पर ही कराया है, यद्यपि वह मनोवैज्ञानिकता बीच-बीच में दार्शनिक रूप धारण कर लेती है ।

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक शेखर के चरित्र का विकास एक ही मूलगत आधार को लेकर हुआ—और वह आधार है उसका अत्यन्त गहन, तीव्र, सर्वगामी और सर्वग्रासी अहभाव । अपने इस गहरी जडो वाले अहभाव को शेखर नाना कलात्मक रङ्गो से रञ्जित और विचित्र दार्शनिक सिद्धान्तों से परिपुष्ट करता चला जाता है । व्यक्ति के अहभाव के चरम विकास को ही शेखर ने जीवन का एकमात्र उन्नत ध्येय माना है, और सारी पुस्तक को यह

जाने के बाद इस सम्बन्ध में सन्देह के लिए कोई गुञ्जाइश नहीं रह जाती कि लेखक का अपना दृष्टिकोण भी यही है।

प्राचीन युग से लेकर आज तक जितने भी श्रेष्ठ कलाकार या दार्शनिक हुए हैं उन सबने व्यक्ति के अहभाव के एकाङ्गीय विकास-मूलक साधना को केवल समाजघाती ही नही बल्कि आत्मघाती भी बताया है। शेखर की अहभावात्मक प्रगति जिस चरम विस्फोट के लिए उन्मुख होती चली गई है वह कभी कल्याणकारी नही हो सकती। पर इस उपाय से लेखक जिस आदर्श सम्बन्धी वैपरीत्य को हमारे सामने रखता है वह परोक्ष रूप से—अपने प्रतिक्रियात्मक प्रभाव से—पाठको के लिए हितकर सिद्ध हो सकता है। जो भी हो, 'शेखर' का दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक कौशल महत्वपूर्ण है।

मेरे अपने उपन्यासो में अज्ञेयजी से ठीक उलटा दृष्टिकोण प्रतिपादित हुआ है। मेरे सभी उपन्यासो का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहभाव की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करने का रहा है। आधुनिक समाज मे पुरुष की बौद्धिकता ज्यो-ज्यो बढती चली जा रही है त्यो-त्यो उसका अहभाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने इस कभी तृप्त न होने वाले अहंभाव की अस्वाभाविक पूर्त्ति की चेष्टा में जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म-विनाश के पहले अपने आस-पास के संसार के विनाश की योजना में जुट जाता है। उसकी इस विनाशात्मक क्रिया का सबसे पहला और सब से घातक शिकार बनना पडता है नारी को। युगो से प्रपीड़ित और शोषित वर्ग है यह नारी। उसे और अधिक प्रपीडित और अधिक शोषित करने की चेष्टा में आज का अहवादी पुरुष कोई बात उठा रखना नही चाहता। आज का अहंवादी पुरुष बुद्धिवादी भी है, इसलिए अपनी मनोवृत्ति की यथार्थता से बहुत-कुछ परिचित भी रहता है। और इसी कारण उसके भीतर विस्फोटक सघर्ष मचते रहते हैं। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि उसी विस्फोट के उपादान वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी की शोषित अन्तरात्मा में भी प्रलयंकर रूप से जुटते चले जा रहे हैं—किन्तु विपरीत दिशा

में। अर्थात् भारतीय नारी के भीतर निकट भविष्य में जो विस्फोट होगा वह उसकी युग-युग से पीड़ित आत्मा के प्रचण्ड विद्रोह की सामूहिक घोषणा करेगा। यही कारण है कि धीरे-धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है; अर्थात् वह शरत् युग की नारी की तरह भावुकता के फेर मे पडकर अहवादी पुरुष की इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहाना और मिटा देना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारा का सामना पूरी शक्ति से करने योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही है। सामाजिक पर्दे के भीतर छिपे हुए इसी सत्य का उद्घाटन [illegible] उपायो से करने का प्रयास मैंने किया है। चूँकि वर्तमान युग मे अहवाद और बुद्धिवाद का संघर्ष व्यक्तियो के भीतर उसी भीषण रूप मे चल रहा है जिस प्रकार वाह्य जगत् में सामूहिक अहवाद और बुद्धिवाद का अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष, इसलिये उपन्यासकार को अत्यत जटिल प्रकृत पात्रो का विश्लेषण अत्यंत गहरे स्तर की मनोवैज्ञानिकता के आधार पर करना पडता है। ऊपरी स्तर पर नजर डालने वाले पाठक उसे न समझ पाने के कारण उकता जावे तो कोई आश्चर्य नही। अन्य उपन्यासकारो की चर्चा यहा पर चलाना मैं इसलिये व्यर्थ समझता हू कि उनमे से किसी का मनोविज्ञान तो मनोविज्ञान की आरभिक स्थिति, अर्थात् भाव-विज्ञान (Science of emotions) को भी पार नही कर सका है और किसी का मनोविज्ञान इस आरभिक अवस्था को भी नहीं पहुँच पाया है।

हर युग में, हर देश मे और हर काल मे प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकार द्वारा अन्तर्जीवन का सत्य ही प्रधान सत्य माना गया है, माना जा रहा है और माना जायगा। बीच-बीच मे कट्टर भौतिकतावादी दार्शनिकों अथवा राजनीतिक क्रातिकारियो की तूती साहित्य में क्षणिक रूप से बोल उठी है, पर वह अन्तर्जगत् के प्रचड सत्य की भीषण बाढ में बह चली है। एक मात्र वही राजनीतिक, सामाजिक अथवा दार्शनिक मतवाद साहित्य के स्थायी सत्य से किसी हद तक सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा, जो अन्तर्जीवन के सत्य के आधार पर वाह्य जीवन की परिचालना और वाह्य जगत की सामाजिक व्यवस्था का पथ निर्देशित

कर सकेगा। आज हमारे कुछ विशेष आलोचक साहित्य में प्रतिपादित किये गये मनोवैज्ञानिक सत्यों का उपहास करने पर तुले हैं, और अपने सगठित साहित्यिक [illegible] द्वारा इस उद्देश्य की सफलता के लिये पूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं कि साहित्य-कलाकार मनोविज्ञान को ताक पर रखकर अतर्जीवन के सत्यों की पूर्ण उपेक्षा करे और केवल उन राजनीतिक तथा समाजवादी तथ्यों का उद्घाटन करे जो वाह्य जीवन-चक्रो के पारस्परिक सघर्ष के रूप में परिस्फुट होते हैं। पर निश्चित रूप से कल उन लोगो को यह मानना पड़ेगा कि राजनीतिक जीवन का सत्य, साहित्य मे यथारूप किसी भी हालत में स्वीकृत नही किया जा सकता। बडे-से-बडे राजनीतिक सत्य को पहले वेष बदल कर अतर्जगत् में प्रवेश करना होगा, तभी वहाँ से वह मनोवैश्लेषिक उपायो से साहित्यिक सत्य के रूप में बाहर प्रस्फुटित हो सकता है। यथार्थवादी दृष्टि रखने वाले कला-मर्मज्ञो ने प्रत्यक्ष अनुभवो के बाद इस परम सत्य को स्वीकार कर लिया है। अभी तक हमारे आलोचकगण हिन्दी की मनोविज्ञान-सम्बन्धी नवीन औपन्यासिक रचनाओ की निन्दा और उपहास करना अपना परम कर्तव्य माने बैठे हैं। पर उनकी यह निराधार चेष्टा निश्चय ही चट्टान पर सिर पटकने के बराबर व्यर्थ सिद्ध होगी।

आज कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी का मनोवैज्ञानिक उपन्यास-साहित्य आश्चर्यजनक रूप से उन्नति कर रहा है और भारत की अन्य सभी भाषाओ के उपन्यास-साहित्य को इस क्षेत्र में बहुत पीछे छोड कर आगे निकल गया है। आज वह न पाश्चात्य जगत के किसी मनोवैज्ञानिक स्कूल का आश्रय-प्रार्थी रह गया है न रवीन्द्र अथवा शरत् की औपन्यासिक रचनाओ के आधार का। आज हिन्दी का उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में जीवन के स्वतन्त्र अवयवो के स्वतन्त्र सत्यो को विश्व-साहित्य के प्रागण में आत्म-विश्वास के साथ रखने का दावा करता है।
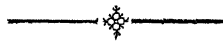
साहित्य का भूत, वर्तमान और भविष्य

भूत से भागने की प्रवृत्ति हमारे साहित्य-समाज मे दिन पर दिन जोर पकडती चली जाती है। भूतवादियो से स्वय मेरा कोई विशेष प्रेम नही है, और मै सदा कालिदास की निम्न उक्ति का कायल रहा हू:

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्
न चापि काव्य नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः पर[illegible] ॥

अर्थात्—"जो-कुछ भी पुगाना है, वही अच्छा है सो बात नही, और जो-कुछ नया है, वह दोषयुक्त है, ऐसा समझना भी भूल है। ज्ञानी लोग प्रत्येक विषय की (चाहे वह पुराना हो, चाहे नया) पूर्ण परीक्षा करने के बाद उसके दोष-गुण का निरूपण करते हैं, और मूढ लोग (जो कि स्वय अपनी प्रज्ञा नही रखते) दूसरो की देखादेखी (भेडियाधसानी मनोवृत्ति का अनुसरण करते हुए) किसी भी विषय को अवसरानुरूप अच्छा या बुरा कहने लगते हैं।"

कालिदास ने यह श्लोक तब लिखा था, जब उन्होने अपनी प्रथम साहित्यिक कृति ('मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक) जनता के सामने उपस्थित की थी। यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि उस समय कालिदास नवयुवक थे, पर थे प्रतिभाशाली (जिसका प्रमाण बाद मे लोगो को भलीभॉति मिल गया था)। उन्हे सन्देह था (जैसा कि स्वाभाविक है) कि चूॅकि वह एक नये लेखक हैं, इसलिए एक अपरिचित लेखक की नाट्य-रचना जनता द्वारा आदर की दृष्टि से ग्रहण नही की जायगी। इसलिए उन्होने कलाविदो को ललकार कर कहा कि एक नये लेखक की नई शैलीयुक्त रचना होने के कारण इसे अवज्ञा की दृष्टि से न देखकर एक बार विवेचनात्मक दृष्टि से उसके गुण-अवगुण की परख कर लो। यदि निष्पक्षतापूर्वक विचार करने

पर भी वह दोषयुक्त निकले, तो दूसरी बात है, पर यदि केवल भाव और भाषा के नयेपन के कारण ही तुम उसे दोषी बताओगे, तो यह बडा भारी साहित्यिक अन्याय होगा।

वास्तव मे कालिदास की वह प्रथम रचना उस युग के लिए प्रगतिशील थी। उसके पहले जितने भी नाटक सस्कृत भाषा मे लिखे गए थे, वे पौराणिक कथाओ के रूपान्तर-मात्र होते थे, उनमे न कवि की मौलिक कल्पना का कोई निदर्शन मिलता था, न नाटकीय प्रतिभा का परिचय। पर कालिदास ने उस प्राचीन परम्परा को एकदम तोडकर अपनी इस मनोवृत्ति का परिचय दिया कि वह परम्परा की निष्प्राण शृखला मे अथवा किसी विशेष नाटकीय 'स्कूल' के सकीर्ण दायरे में अपने को बाँधकर कवि के मुक्त प्राणो के भीतर हिल्लोलित होनेवाली सजीव कल्पनाओ की हत्या नही करना चाहते।

केवल नाटक के क्षेत्र मे ही नही, काव्य-क्षेत्र में भी कालिदास ने अपनी प्रगतिशील प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय दिया। उनका 'मेघदूत' इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है। कालिदास के 'क्लासिकल' युग में वास्तव मे 'मेघदूत' एक आकस्मिक, अप्रत्याशित और अपूर्वकल्पित रचना थी। निश्चय ही उस युग के सरक्षणशील आलोचको ने (जिनकी सख्या अवश्य ही काफी रही होगी) उस प्रगतिशील, अभिनव, रोमान्टिक रचना का विरोध बडे कडे शब्दों में किया होगा। उस समय की आलोचनाएँ आजकल की तरह पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित नहीं होती थी, वरन् पण्डितो की भरी सभाओ मे मौखिक रूप से उनकी आवृत्ति की जाती थी। इस बात के निश्चित प्रमाण मिलते हैं कि इस प्रकार विद्वत्-समाज के बीच मौखिक रूप से पढी गई आलोचनाओं का प्रचार जितनी द्रुतगति से उस युग में होता था, उतनी शीघ्रता से आजकल की पत्रिकाओं मे प्रकाशित आलोचनाओं का प्रचार नहीं हो पाता, और न आजकल की आलोचनाओ का पाठक समाज पर उतना गहरा प्रभाव ही पडता है। 'मेघदूत' में कालिदास ने 'निचुल' तथा 'दिङ्नाग' का उल्लेख किया है। उन पर टिप्पणी करते हुए मल्लिनाथ ने लिखा है कि वे दोनों कालिदास के समकालीन आलोचक तथा कवि थे। यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि दिङ्नाग ने कालिदास की प्राथमिक रचनाओं में परम्परा का उल्लंघन पाकर

उनकी कडी आलोचना की थी, इसीलिए उन्होंने 'मेघदूत' को लक्ष्य करके कहा कि "तुम दिङ्नागादि पुराण-पंथी आलोचको का पथ त्याग कर आगे बढ़ना।"

कालिदास केवल अपने पिछले युगो से ही नही, स्वय अपने युग से भी इतने आगे बढे हुए थे कि उनका 'मेघदूत' प्रायः आधुनिक युग की एक विशिष्ट रचना-सी लगती है। पर ऐसे प्रमुख प्रगतिवादी होने पर भी उन्होंने कभी उस सस्कृति को अमान्य नही बताया, जो परम्परा से अपनी जड जमाए हुए थी। वह जानते थे कि रामायण तथा महाभारत के समान विराट् महाकाव्य जिन युगों मे रचे गए हैं, उनका पुनरावर्तन कदापि नही हो सकता, और उनकी नकल सदा निष्प्राण तथा निष्फल सिद्ध होगी, तथापि उन दो महान् कृतियों के भीतर अपने-अपने युगो की जो मूल शक्तियाँ निबद्ध हैं, वे सब युगो मे सजीव और सप्राण रहेगी और मानवात्मा को महोद्देश्य के लिए प्रेरित करती रहेगी। कालिदास ने उक्त महाकाव्यो की नकल रञ्चमात्र भी नहीं की, पर अपने युग के प्रगतिशील साहित्य का निर्माण करने के लिए उन्हे जो प्रेरणा प्राप्त हुई, उसके मूल मे उन महारचनाओ के अन्तर मे निहित, प्राणवेग से चिर-स्पन्दित महान् शक्ति ही थी।

प्रत्येक महायुग की सामूहिक और सांस्कृतिक शक्ति अपने पीछे एक महत्व का भाव छोड़ जाती है। युग-विवर्तन के साथ-साथ उस शक्ति का रूप बदल जाता है, और उस रूप का बदलना मानवात्मा की सहज प्रगतिशील प्रवृत्ति के विकास के लिए परम आवश्यक भी है, पर वह मूलशक्ति उसी प्रकार सरक्षित रह जाती है, जिस प्रकार रेडियम के भीतर चिर-प्रस्फुटनशील वैद्युतिक अणु निबद्ध रहते हैं। जिन मूल प्राकृतिक शक्तियो ने वर्तमान वैज्ञानिक युग मे घर-घर काम आनेवाली तथा नित्य नये औद्योगिक आश्चर्यों की उद्भावना करने वाली बिजली को जन्म दिया है, यदि हम उन्हें आज के अणु-युग मे 'आउट आफ फैशन' कहकर अस्वीकृत करें, तो इस बात से उन शक्तियो का महत्व तनिक भी नष्ट नहीं होगा, भले ही हमारी मूर्ख और मिथ्या दाम्भिकता का निष्फल जयोल्लास उसके द्वारा व्यक्त हो।

मै यह कदापि नही कहता कि हमे भूतकालीन सस्कृतियो के बन्धन मे अपने को जकडे रहना चाहिए। नही जो व्यक्ति तनिक भी मानवीय बुद्धि रखता हो, वह कभी इस प्रकार की गतिहीनता की बद्ध पकिलता मे डूबे रहने का उपदेश नही देगा। मै केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि मानव की चिर-प्रगतिशील संस्कृति का मूल स्रोत जो भूतकाल है, उसे एकदम तिरस्कृत तथा अस्वीकृत करने से हम स्वय अपने पैरो पर कुल्हाडी मारेगे। सस्कृति की प्रवाहशीलता नदी की चिर-गतिमान धारा की तरह है। पर यदि हम गगा के मूल स्रोत गगोत्तरी पर आधुनिक वैज्ञानिक उपायो से एक सुदृढ़ बॉध खडा कर दे, तो क्या उसकी गगासागरव्यापी प्रगतिशीलता, मूल उत्स के रुद्ध हो जाने से बालू की शुष्कता मे परिणत नही हो जायगी ? हम चिर-नवीन की ओर बढने के लिए कितनी ही कूद-फॉद मचावे पर चिर-पुरातन प्रतिपल (हमारे जान में या अनजान मे) भूत की तरह हमारे साथ लगा ही रहेगा, यह ध्रुव निश्चित है। आधुनिक मनोविज्ञान इसी मूलाधार पर खडा हुआ है कि मनुष्य की अन्तश्चेतना मे युगो से सचित असख्य प्रवृत्तियॉ दबी पडी है, और मनुष्य के सचेत मन को अज्ञात अतल में छिपी हुई वे ही मूलवृत्तियॉ सब समय परिचालित करती रहती है। मनुष्य की आत्मा (मेरा आशय Soul से है) के तीन-चौथाई भाग को उसकी अन्तश्चेतना घेर लेती है (जो युग-युगान्त के सस्कारो के सचित कोष के अतिरिक्त और कुछ नही), और उसका केवल एक-चौथाई भाग हमारा सचेत मन अधिकृत करता है। तिस पर मजा यह है कि वह एक चौथाई भाग भी अन्तश्चेतना की अज्ञात प्रेरणा के बिना एक तिनका तक नही तोड सकता। हम भूत की कैसी ही अवहेलना क्यो न करे, पर वह सब समय, प्रतिदिन, प्रतिपल छाया की तरह हमारे साथ लगा ही रहता है। हम उसकी जितनी ही अवज्ञा करते है वह उतनी ही अधिक प्रबलता से हमारा गला पकड़ने लगता है। मनोविश्लेषको का कहना है कि आधुनिक सभ्य जगत् में स्त्री-पुरुषो में मनोभावनाओ की जो असख्य उलझी हुई गुत्थियॉ पाई जाती हैं, और उनके फलस्वरूप जो नाना प्रकार की मानसिक विकृतियो का तूफ़ान उनके भीतर सब समय मचता रहता है, उसका मूल कारण यही है कि

आधुनिक मानव अपनी उन मूल प्रवृत्तियों को भूलना और दबाना चाहता है, जो उसे बर्बर युग से, बल्कि उससे भी पहले से प्राप्त हुई हे। मनोभावनाओं की विकृतियों के निराकरण तथा मानसिक उलझनों के सुलझाव के जो उपाय मनोविश्लेषकों ने बताए हे उनमें सर्व प्रधान यह है कि हम अपनी उन आदिम—प्राथमिक—प्रवृत्तियों को दबाने की व्यर्थ चेष्टा करने के बजाय उन्हें सहज रूप मे ग्रहण करें, और जिस मूलशक्ति-स्रोत से हमारी वे प्रवृत्तियाँ युगों पहले प्रस्फुटित हो चुकी हैं, उसे मुक्त हृदय से अपनावे, और अपनाने के बाद यह प्रयत्न करें कि इस मूलशक्ति को हम मानवीय सस्कृति के विकास के सुन्दर से सुन्दरतर स्तरों की ओर प्रेरित और परिचालित करने मे समर्थ हो सकें। प्रगति की हमें परम आवश्यकता है, पर वह प्रगति हमारे अन्तर्द्वन्द्वों से उत्पन्न प्रतिक्रिया की पूँछ न हो, बल्कि वह उसी मूलशक्ति के सहज विकास का स्वाभाविक प्रतिफल हो, जो बर्बर-युग के मनुष्यों मे अपनी अज्ञात प्रेरणा से उन्मद नृत्योल्लास की भावना जागरित करती थी, वैदिक युग मे जिसने बाह्य प्रकृति के चित्र-विचित्र सौन्दर्य का प्रभाव मानव की अन्तर-प्रकृति मे डालकर दोनों को एक रूप मे मिलित होने के लिए प्रेरित किया, रामायण के युग मे जिसने एक अत्यन्त उन्नत सामाजिक व्यवस्था के उच्च आदर्श, महत् आत्म-त्याग की भावना के ज्वलन्त निदर्शन और नारीत्व की अनन्त महिमा के चरम कारुणिक स्वरूप की ओर मानवीय कल्पना को उन्मुख किया, महाभारत काल मे जिसने मानव-जाति की सर्वतोमुखी प्रतिभा के चरम विकास तथा परम ह्रास की जीवन-मरण-लीला के परिपूर्णता-प्राप्त अखिल ताण्डव-नर्तन का विस्फूर्जित रूप जनता के आगे रखा, कालिदास के युग मे जिसने मानव-मन की सुन्दर, सरस तथा सुकुमार मनोवृत्तियों के सहज स्फुरण की इन्द्र-धनुषी माया का चित्रण करके अमिट रंगों से विश्वात्मा को रँग दिया; तुलसीदास के समय मे जिसने श्रद्धा-विभोर भाव-प्रवणता के उद्दाम प्रवेग से जन-मन को आप्लुत कर दिया, और रवीन्द्रनाथ के युग मे जिसने एक ओर रोमान्टिक रहस्यवाद की विश्वमोहिनी माया से और दूसरी ओर कठोर जीवन सघर्ष की घन-विषादाच्छन्न छाया से मानव-चेतना को एक छोर से दूसरे छोर तक उद्वेलित कर दिया।

हमे यह बात प्रतिक्षण ध्यान मे रखनी होगी कि मानवीय उत्पत्ति के आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक मूल प्रवृत्तियो का एक अच्छेद्य तार, एक अटूट लडी अपना अस्तित्व कायम रखती है। जब-जब अपनी आधि भौतिक सभ्यता के विकास-जनित गर्व से स्फीत अहवादी मनुष्यो ने उस तार को छिन्न करना चाहा है और एक मूलतः नई सस्कृति और नई सभ्यता की स्थापना का ढोग रचकर पिछली सभ्यताओ के अवशिष्ट संस्कारो को जड से उखाड फेकने का औद्धत्य प्रदर्शित किया है तब-तब ससार में महाउत्पात मचे हैं, जिनके फलस्वरूप मानव-जाति को महान् कष्ट सहन करने पड़े हैं और प्रगति की ओर बढने के बजाय मानवता को दुर्गति के गहन गर्त में गिरते हुए देखा गया है।

फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति के मूल उन्नायक रूसो ने ससार के इतिहास में सबसे पहले जन-साधारण के जागरण का मन्त्र उच्चारित किया, जिसका आशय इस प्रकार है: "मनुष्य एक स्वाधीन प्राणी के रूप मे जन्म लेता है, पर ससार मे वह सर्वत्र पराधीनता की बेडियो से जकडा हुआ पाया जाता है।" अपने 'ले कोंत्रा सोशियाल' नामक विश्व विख्यात ग्रन्थ में उसने जन-साधारण की दलित अवस्था के विरुद्ध जिस भयकर विद्रोह की घोषणा की, उसी के फलस्वरूप बाद मे फ्रान्स की इतिहास-प्रसिद्ध राज्यक्रान्ति भडक उठी। पर चूँकि उसके शिष्यो ने उसके [illegible] तोड़-मरोड कर विकृत रूप मे उनका प्रचार किया, इसलिए फल यह हुआ कि फ्रान्सीसी जनता का जागरण मानव-समाज को वास्तविक प्रगति तथा उन्नति के पथ की ओर ले जाने के बजाय केवल एक विनाशकारी सभ्यता की अस्थायी दानवी माया की सृष्टि करने मे सफल हुआ। रूसो ने यह कभी नही कहा कि दलित जनता को जन्मसिद्ध समान-अधिकार प्राप्त करने मे सफलता तभी मिल सकती है, जब वह पिछले युगों की सस्कृतियो को जड से उखाड़ कर उन्हें धरातल से लुप्त कर दे। उन संस्कृतियो की ऊपरी तह पर विकृतियों की जो काई लग गई थी, उसे निकाल कर अलग फेंकने के पक्ष में वह अवश्य था; पर उनके मूल मे जो शक्ति निबद्ध थी, उसे सम्पूर्ण आत्मा से अपनाने का उपदेश उसने दिया था। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि

रूसो अपने युग का सर्वश्रेष्ठ प्रगतिवादी होने पर भी वैज्ञानिक उन्नति को मानवीय विकास की सहज, स्वाभाविक प्रगति के पक्ष में घोर हानिकर बताता था। वह सभ्यता के आदिम युग के मनुष्यों की जीवनचर्या का जबर्दस्त प्रशसक था। पर उसके शिष्यों ने इसके बिलकुल विपरीत मत का प्रचार करना आरम्भ किया। उन लोगों का कहना था कि ज्ञान की जो धारा सभ्यता के प्रारम्भिक काल से लेकर उनके समय तक प्रवाहित होती आई है, उसे एकदम सुखा देना होगा और उस "पुरानी, सडी-गली' सभ्यता तथा संस्कृति के स्थान मे एक मूलतः नयी और प्रगतिशील संस्कृति की स्थापना करनी होगी। मूलशक्ति-स्रोत को तिरस्कृत करके 'प्रगतिशील सभ्यता' के उन अग्रदूतो ने जो राज्यक्रान्ति मचाई, उसका परिणाम कैसा घोर विनाशक और प्रतिक्रियात्मक सिद्ध हुआ, इस बात से इतिहास के पाठक भली भाँति परिचित हैं। उस क्रान्ति के फलस्वरूप निरर्थक जन-सहार हुआ, नेतागण आपस मे ही लड़कर कट मरे, जनता प्रगति के पथ पर एक पग भी आगे न बढ़ सकी, बल्कि पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक दुर्गति के चक्रजाल मे जकड गई। जन-जागरण की उस महाक्रान्ति की चरम परिणति नेपोलियन के समान एक ऐसे परम अवसरवादी डिक्टेटर के उत्थान मे हुई, जिसने अपनी व्यक्तिगत महत्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए (वर्तमान युग मे हिटलर के समान ही) समस्त यूरोप को अपने पैरो तले रौंद डाला और प्रलयकर रक्तपात मचाकर स्वाधीन राष्ट्रों को दासत्व की शृंखला मे बाँध दिया। "स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व" का स्वप्न उसी दम छिन्न-भिन्न हो गया। इसीलिए मैंने कहा है कि मानवीय संस्कृति के विकास की स्वाभाविक और प्राकृतिक प्रगति को रुद्ध करके एक मूलतः नयी (और स्वभावतः कृत्रिम) संस्कृति को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा मानव-जाति के दाम्भिक नेताओ द्वारा जब-जब हुई है, तब-तब उसका उलटा परिणाम हुआ है।

जिस प्रकार फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति की विक्रान्ति के फलस्वरूप नेपोलियन के समान जालिम डिक्टेटर का उत्थान हुआ, ठीक उसी प्रकार हमारे युग में हिटलर का बोलवाला हुआ, जिसने नेपोलियन से भी अधिक उग्रता से अपनी महत्वाकाक्षा की अग्नि-शिखाओं से सारे संसार को आच्छादित कर लिया

है। वर्तमान महायुद्ध इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि इस युग की सस्कृति फिर एक बार बर्बर युग की मनोधारा को पूर्ण रूप से अपना चुकी है, अथवा यह कहिए कि ऊपरी प्रगति के कोलाहल के नीचे, सभ्यता के झीने पर्दे के अन्तराल मे जिस बर्बरता को मनुष्य अपने अनजान मे अपनाता चला जाता था, वह वर्तमान समय मे चरम परिणति को प्राप्त होकर, सभ्यता के ढोंग-भरे पर्दे को फाडकर अपना वास्तविक हिंसक रूप प्रकट कर रही है। ग़रज यह है कि चाहने पर भी मनुष्य भूत से अपना सम्बन्ध-विच्छेद नही कर सकता। अब प्रश्न केवल इतना ही है कि वह अपनी परम्परागत विकृतियो का विकास करना चाहता है या सस्कृतियो का। मानव-समाज की भूतकालीन सस्कृतियो को 'सडी-गली' बताकर उनके मूलोच्छेदन का उपदेश जनता को देकर आप आसानी से प्रगति के उपासक मान लिये जायेंगे, पर ऐसा करने के पहले आपको एक बात पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा। प्राचीन संस्कृतियाँ बीज रूप मे जो जीवनी शक्तियाँ आपको प्रदान कर गई हैं, उन शक्तियो के मूलतत्वो को ग्रहण न करने से स्वभावतः आप मानव-प्रकृति की परम्परागत विकृतियो को पूर्णरूप से अपनाने के लिए बाध्य होंगे। आपके लिए केवल दो मार्ग हैं—या तो आप पिछले युगो की सस्कृतियों से प्राप्त शक्ति-तत्वो को ग्रहण करके उनके विकास द्वारा वास्तविक प्रगति का अनुसरण करें, या उन सस्कृतियो के निम्नस्तर मे समानान्तर रेखा से विकासशील जो मानवीय विकृतियाँ हैं, उनका जयघोष निनादित करें। इन दो मार्गों मे से एक को अपनाना आपके लिए अनिवार्य है। तीसरे किसी भी पथ पर चलने की चेष्टा शून्य मे चलने के बराबर होगी, जिसके परिणाम-स्वरूप पृथ्वी का माध्याकर्षण आपको बुरी तरह जमीन पर पटक कर छोडेगा। मार्क्सानुगामी रूसी क्रान्ति के नेताओ ने समता का आदर्श प्रतिष्ठित करने का प्रयास करके एक महान् सदुद्योग किया था, यह बात माननी ही पडेगी; पर उनकी भूल यह रही कि उन्होने भूतकालीन मानवीय सस्कृतियो के बीज-रूप में अवशिष्ट चिह्नो को मूलतः विनष्ट करना चाहा। बाद मे वे स्वयं अपनी इस भूल को महसूस करने लगे।

साहित्य मे सच्ची प्रगति का स्वर हम जितना अधिक ऊँचा कर सके उतना ही वह मानवीय सांस्कृतिक विकास के लिये हितकर होगा। पर प्रगति का अर्थ यदि हम केवल नये युग का अस्थायी साहित्यिक फैशन माने तो इससे बड़ी घातक भूल दूसरी नहीं होगी। मुझे पूरा विश्वास है कि निकट भविष्य मे हमारे साहित्य-जगत् मे सच्चे अर्थ मे प्रगतिशील कलाकारो का उद्भावन होगा जो भूत और वर्तमान की संस्कृतियो के मूल बीजक शक्तियो के सामंजस्य द्वारा लाभान्वित होकर वास्तविक विश्व-कल्याण की आंतरिक प्रेरणा से भविष्य के लिये अग्रसर होगे। इस लेख द्वारा मैं उन आने वाले तरुण महात्माओ के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करता हूँ।

विश्व-साहित्य में मनोविज्ञान

मनोविश्लेषण केवल इसी युग की विशेषता नही है, बल्कि बहुत प्राचीन काल से, जब से साहित्य-कला के वास्तविक विकास का आरभ हुआ तभी से, मनोविश्लेषण लेखको और कवियो के जान मे या अनजान मे, अपने आप, सास्कृतिक प्रगति के स्वाभाविक नियम के क्रम से, साहित्य में प्रवेश पा गया। वेदकालीन सदर्भों, काव्योच्छ्वासों और उपाख्यानो में हमे मनोभावनाओ के विवेचन और विश्लेषण के आदिम प्रयास का परिचय मिलता है। उपनिषद् कालीन साहित्य मे क्रातद्रष्टा ऋषियो और कवियो ने इस विज्ञान को प्रायः चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। मानव-मन के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम विश्लेषण द्वारा ही वे लोग आत्मा के अणोरणीयान और महतोमहीयान् रूप से परिचित हो पाये थे। पर उपनिषत्काल मे उस रसमय और कलात्मक साहित्य का कोई विशिष्ट और निश्चित रूप स्थिर नही हो पाया था जिसका परिचय हमे रामायण और महाभारत काल तथा उसके परवर्ती युगों से मिलता है।

रामायण में कवि ने अपने विभिन्न पात्रो का चरित्र-चित्रण ऐसी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तूलिका से किया जो तत्कालीन साहित्य प्रेमी जनता के लिए एक नयी चीज थी। मनोवैज्ञानिक सिद्धात उस युग में तत्कालीन युग-चिंतको की अनुभूतियो के अनुसार निश्चय ही वर्तमान रहे होंगे। पर मनोवैज्ञानिक सिद्धात एक चीज है और रसमय साहित्य मे मानवीय जीवन के मूलगत रहस्यो का परिचय मनोविश्लेषण के आधार पर देना तथा काव्य-कथा के पात्र-पात्रियो के जीवन का यथार्थ मूल्याकन उनकी मानसिक प्रवृत्तियो के सूक्ष्म विवेचन द्वारा करना बिलकुल दूसरी चीज। रामायण मे साहित्य-मर्मज्ञो ने यही विशेषता पायी, जो वेदकालीन रसात्मक साहित्य मे केवल आभास रूप में वर्तमान थी।

महाभारत में, जिसकी गिनती मैं रसात्मक और कलात्मक जीवन-साहित्य के चरम निदर्शनों में करता हूँ, यह मनोवैश्लेषिक कला रामायण की अपेक्षा ऊँचे और साथ ही अधिक गहरे स्तरों तक पहुँच गई थी। महाभारतकार ने अपने काव्यात्मक उपन्यास या औपन्यासिक महाकाव्य में ऐसी गहन और जटिल मानसिकता-समन्वित पात्रों की अवतारणा की है जिसका जोड़ विश्व-साहित्य में मिलना कठिन है। यही कारण है कि पाश्चात्य समीक्षक ऐसी विराट और गहन साहित्यिक कृति का ठीक-ठीक मूल्य-निर्धारण करने में बराबर असमर्थ रहे हैं। उस अगाध सागर में उन्हें तूफानी प्रकृति के पात्र-पात्रियों के जो आत्म-विरोधी रूप मिलते हैं, महात्माओं के समकक्ष रखे जाने वाले पात्रों में निम्नतम कोटि की मानसिक दुर्बलताओं का जो सूक्ष्म विश्लेषणात्मक परिचय मिलता है, और विविध मानवीय मूल्यों के परस्पर विरोधी रूपों को यथार्थ जीवन में समन्वयात्मक रूप में प्रयुक्त करने की जो प्रवृत्ति पायी जाती है, वह पाश्चात्य बुद्धि को कुंठित कर देती है। महाभारत में हम देखते हैं कि भगवान की कोटि में रखे जाने वाले अमित प्रतापवान् अतुलित प्रतिभा-शाली, अपरूप आध्यात्मिक तेज से प्रदीप्त कृष्ण अपने पुराने वैरी मगधाधिपति जरासंध की हत्या अत्यन्त कायरतापूर्ण ढंग से करने की सलाह पांडवों को देते हैं। उनकी सलाह से पांडवगण गुप्त वेष बनाकर ब्राह्मणों के रूप में उसके महल में प्रवेश करते हैं और फिर मल्लयुद्ध में अनुचित रीति से उसकी हत्या कर डालते हैं। कृष्ण अंत तक इस हीन षडयंत्र में उनका साथ देते हैं। अपने इस अगौरवशाली कृत्य की सफाई देते हुए कृष्ण कहते हैं कि जरासंध को प्रकट युद्ध में जीत सकने की समर्थता किसी में नहीं है, और यदि पांडव उत्तर भारत में एकाधिपत्य चाहते हैं तो उसकी हत्या अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए गुप्त षड्यन्त्र रचना ही उचित है! जरासंध के प्रति कृष्ण के व्यक्तिगत विद्वेष की बात पहले ही कही जा चुकी है। उसी प्रकार अर्जुन को यह सलाह देना कि वह उनकी बहन सुभद्रा को भगा ले जावे, क्योंकि ऐसा न करने से वह न जाने किसके प्रति आसक्त होकर वरमाला पहना बैठे, कृष्ण के चरित्र के एक और मनोवैज्ञानिक पहलू पर प्रकाश डालता है। मानवीय ज्ञान का चरम सार गीता के रूप में समझाने के लिए अहिंसाव्रती

कृष्ण युद्ध से नैतिक कारण से विरक्त होनेवाले अर्जुन को उपदेश देते हुए इस बात पर जोर देते हैं कि सामूहिक हिंसा-काड से कतराना ज्ञानी के लिए किसी प्रकार भी उचित नही है। ये सब मनोवैज्ञानिक तथा अति-मनोवैज्ञानिक उलझनें हैं जिन्हे महाभारतकार के समान महान मनीषी ही सुलझा सकता था। धर्मराज युधिष्ठिर को जुए की हीनतम प्रवृत्ति मे लिप्त दिखाने, और उसे अपनी पत्नी तक को दाव मे रखकर पतन की चरम सीमा तक पहुँचा देने के लिए जितने बडे साहस की आवश्यकता थी वह किसी साधारण मनोवैज्ञानिक कथाकार के बूते की बात नही थी। केवल इतना ही नहीं, उस एकवस्त्रा रजस्वला नारी की भरी सभा मे दुर्गति होते देखकर भीष्म और द्रोण जैसे परम तत्ववेत्ता धर्मनिष्ठ और प्रतापी वयोवृद्धो के कायरतावश मौन साधे बैठे रहने का जो चित्र महाभारतकार ने खीचा है उससे उन महापुरुषों की मनोवैज्ञानिकता के एक रहस्यपूर्ण पहलू पर प्रकाश पडता है। विराट सभा मे कीचक-पीडित पतिव्रता द्रौपदी जिन शब्दों मे अपने पतियो—विशेषकर युधिष्ठिर और अर्जुन—की प्रताडना करती है उनसे धर्मराज युधिष्ठिर और महाबाहु अर्जुन के छिपे हुए, किन्तु यथार्थ, रूपो का परिचय मिलता है। जुआप्रेमी युधिष्ठिर की नैतिक दुर्बलता और निकम्मेपन पर प्रकाश डालकर वह उनकी धार्मिकता की आड मे छिपी हुई वास्तविकता की पोल खोल देती है। उसी प्रकार बृहन्नला के रूप मे विराट की राजकन्याओ को नृत्य-गीत सिखाने वाले अर्जुन की दमित प्रवृत्तियो पर भी वह काफी रोशनी फेंकती है। स्वय द्रौपदी की कई मनोवैज्ञानिक उलझनो को महाभारतकार ने पाठको के आगे रखा है। द्रौपदी कभी तो पाचो पतियो पर समान प्रेमभाव बरतने के लिए सचेष्ट दिखायी देती है, कभी अर्जुन के प्रति उसकी विशेष प्रीति प्रकट होती है, कभी वह सौम्य-शान्त अबला नारी के रूप में हमारे सामने आती है और कभी प्रचड प्रतिहिंसापरायण, रक्त के बदले रक्त की चाहना करने वाली चडी के रूप मे हुकार उठती है। कर्ण और कुंती को लेकर जिस अत्यन्त सूक्ष्म और मार्मिक मनोवैज्ञानिक विवेचन का परिचय महाभारतकार ने दिया है वह आज के प्रगतिशील युग के, नयी खोजवाले मनोवैज्ञानिको में भी दुर्लभ है। जारिणी माता का जार पुत्र के प्रति दीर्घकाल तक छिपाया

और दबाया हुआ स्नेह जब महायुद्ध के ठीक पूर्व फूट पडता है तब जन्म से परित्यक्त पुत्र का स्वाभाविक अभिमान जिन सयमित शब्दो मे प्रकट होता है वे अपूर्व हैं।

महाभारत के बाद हमें प्राचीन नाटको में मनोविश्लेषण के आश्चर्यजनक रूप से सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। कालिदास ने अपनी रचनाओ में केवल मानवीय मनोविज्ञान ही नहीं, बल्कि पशुओ के भी गहन मनोविज्ञान का परिचय दिया है। उनके जगत-प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान-शाकुतल' में विभिन्न पात्र-पात्रियो के मनोभावों का जो सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है वह उस युग को ध्यान में रखते हुए आश्चर्य-जनक लगता है। कहा जाता है कि मनुष्य के अवचेतन मन के अस्तित्व की सूचना पहले पहल फ्रायड ने ससार को दी। यह दावा कितना भ्रामक है, भारतीय मनोविज्ञान से परिचित पाठको से यह छिपा न होगा। हमारे यहाँ मन के जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थाओं का उल्लेख प्राचीन ग्रथो में मिलता है। कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुंतल' में मनोविश्लेषण के कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि अवचेतन मन के रहस्यो का पता हमारे कवि को था। मै यहाँ पर केवल एक उदाहरण दूँगा। कण्व मुनि के आश्रम से दुष्यत के राजधानी मे लौट आने के कुछ समय बाद की घटना है। दुष्यत अनमने भाव से अपने प्रासाद में बैठे हैं। सहसा किसी कलकठ से निकला हुआ सगीत-स्वर सुनायी देता है। गीत का आशय यह है: "हे भ्रमर! तुम मधुलोलुप हो, पर किसी एक पुष्प के प्रति तुम्हारा स्थिर प्रेम नही है। कल तक तुम आम की सरस मजरी का रस बड़े चाव से ग्रहण किया करते थे। पर अब उससे तुम्हें विरक्ति हो गई है और अब तुम कमल के प्रति आकर्षित हो गये हो।"

उपेक्षिता हसपदिका का उलाहना दुष्यत समझ लेते हैं और उसके प्रति सात्वना का सदेश भेज देते हैं। पर फिर भी उनके मन मे एक अजीब-सी बेकली समायी रहती है। वह गीत-स्वर निरतर उनके कानो मे गूँजता हुआ रह-रह कर एक रहस्यपूर्ण उत्सुकता उनके मन मे उत्पन्न करने लगता है। पर वह बेकली क्यो है और किसलिए है, इसका कोई कारण उनकी

समझ में नहीं आता। वह अपने-आप से प्रश्न करने लगते हैं: "किन्नु खलु सुहृद्जन विरहाद्रिनेऽपि वलवदुत्कठितोस्मि ?" सुहृद्जनो के विरह के अभाव मे भी मैं बरबस क्यो उत्कठित हो उठता हूँ ? बहुत सोचने के बाद अत में वह इस परिणाम पर पहुँचते है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्व
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि।

अर्थात् रमणीय दृश्यो को देखकर और मधुर शब्दो को सुनकर सुखी जन भी जो उत्कठित हो उठते हैं, उसका कारण यह है कि ऐसे अवसरो पर उनकी जाग्रत चेतना मे विगत जीवन के प्रेम की वे स्मृतिया जागरित हो उठती हैं जो अज्ञातरूप से उनकी चेतना के भीतर भावरूप मे बद्ध हैं। 'अबोधपूर्व' का मैं यही अर्थ लगाता हूँ—जो इसके पूर्व अबोध अर्थात् बोध के परे अर्थात् अज्ञात रूप में रहा हो। दूसरे शब्दो मे वे स्मृतिया जो मन के भीतर वर्तमान तो हो, पर भावस्थिर हों (अर्थात् अवचेतना में सुप्त अवस्था में बद्ध पडी हों) वे सुन्दर दृश्यो के दर्शन और मधुर स्वरो के श्रवण से जागरित होकर सचेत मन में उठ आती हैं।

दुर्वासा के अभिशाप से कहिए, या किसी अप्रिय उत्तरदायित्व से मुक्त होने की इच्छा से उसे भूलने के लिए उत्सुक चेतना की चालबाजी से कहिए, दुष्यंत शकुंतला के प्रेम को ऐसे भूल चुके थे, जैसे वह इस जन्म की अथवा जाग्रत अवस्था की कोई घटना ही न हो, बल्कि पूर्व जन्म की या स्वप्नावस्था की घटना हो। पर अवचेतना से सबधित मनोविज्ञान यह बताता है कि किसी भी अनुभव को भूल जाने की इच्छामात्र से ही उसे भूला नहीं जा सकता। सचेत मन भले ही अपने-आप को ठगने के लिए प्रकट रूप से उसे भूल जाय, पर अवचेतन मन प्रत्येक अनुभव को (विशेषकर दमित अनुभव को) अपने विशाल कोष में बंद रखता है। विशेष-विशेष अवसरों पर उस दमित आकांक्षा या स्मृति पर जब कोई प्रबल धक्का बाहर से पडता है तब

वह जागरित होकर फिर सचेत मन में आ टकराती है। दुष्यंत ने शकुंतला की जिस स्मृति को अपने अवचेतन मन में दबा दिया था वह हसपदिका के विशेष स्वर-ताल-लय-युक्त और सविशेष अर्थ से पूर्ण गीत से धक्का खाकर जग उठने के लक्षण प्रकट करने लगी—यद्यपि पूर्ण रूप से जगी नहीं। क्योंकि अभी पूरे जोर से धक्का लगना शेष था।

जो भी हो, कालिदास के उक्त श्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि अवचेतना के अस्तित्व से वह भलीभाँति परिचित थे, और यह भी जानते थे कि जिस बात को हमारा सचेत मन किसी सामाजिक अथवा नैतिक कारण से भुला (अर्थात् दबा) देता है वह लुप्त नहीं हो जाती, बल्कि अवचेतन मन मे भावस्थिर होकर वर्तमान रहती है। उस युग में इस जानकारी का ऐसे विश्लेषित रूप में वर्तमान होना और उसका प्रयोग साहित्य की एक रसात्मक कृति मे किया जाना कितनी बड़ी विशेषता थी, यह मनन करने की बात है!

शूद्रक के 'मृच्छकटिक' और भवभूति के 'मालतीमाधव' तथा 'उत्तररामचरित' में मनोवैश्लेषिक कला को पूर्णतया अपनाया गया है। आजकल के मनोवैज्ञानिक नाटकों तथा उपन्यासो से कुछ कम मनोविश्लेषण उनमे नहीं पाया जाता।

केवल भारतीय साहित्य में ही नहीं, प्राचीन ग्रीक साहित्य में भी हमे पात्र-पात्रियों के मानसिक विश्लेषण का परिचय मिलता है। ईस्काइलस के 'प्रामेथ्यूज' तथा 'एगेमेमनन', सोफोक्लीज के 'ईडिपुस', यूरीपिडीज के 'इफिगीनिया' आदि नाटकों में हमें यह कला काफी गहरे रूप मे मिलती है। मध्ययुग के पाश्चात्य नाटककारो में शेक्सपीयर ने सर्जनात्मक साहित्य में मनोविश्लेषण को जितना महत्व दिया था उतना आज के युग में भी शायद नहीं दिया जाता। उसका 'हैमलेट' ससार की समस्त मनोवैज्ञानिक साहित्य-कृतियो में अभी तक सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के श्रेष्ठ साहित्य-कलाकारो मे गेटे ऐसा कवि हुआ जिसने अपने 'फाउस्ट' तथा दूसरी रचनाओ मे मनोविश्लेषात्मक शैली को पूर्ण उत्साह के साथ अपनाया।

उन्नीसवी शताब्दी के फ्रासीसी उपन्यासकारो ने भी यह अनुभव किया कि यदि जीवन और जगत् के मूलगत तत्वो के यथार्थ निरूपण तथा जीवन

की अंतरीण और बाह्य समस्याओं के पारस्परिक संघर्ष और मेल के, समुचित मूल्यांकन द्वारा उच्चकोटि के रसात्मक तथा सर्जनात्मक साहित्य का निर्माण करना है तो मनोवैश्लेषिक कला का सहारा पकड़ना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। उन्होंने किया भी यही। फ्रासीसी उपन्यासकारो के बाद रूसी उपन्यासकारों ने—जिनमें विशेष रूप से डास्टाएव्सकी का नाम लिया जा सकता है—मनोविज्ञान के सूक्ष्मतम रूप को अपनाया। डास्टाएव्सकी के बाद समस्त यूरोप के कलाकारो ने सर्जनात्मक साहित्य में मनोविज्ञान के महत्व को एक स्वर से स्वीकार किया।

बीसवीं शताब्दी के आरभ से मनोवैज्ञानिक साहित्य में एक नया अध्याय आरभ हुआ। कुछ आस्ट्रियन पडितो ने—जिनमे फ्रायड, युग और आडलर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—मनोविज्ञान से सबधित कुछ ऐसे तथा-कथित नये सिद्धातो की खोज की, जिन्होंने प्रचलित मनोविज्ञान के क्षेत्र मे एक प्रचड क्राति की लहर उत्पन्न कर दी। इन 'नये सिद्धांतो' मे सबसे प्रमुख बात थी मनुष्य के अवचेतन मन-सबधी खोज। मै निर्देशित कर चुका हूँ कि प्राचीन भारतीय मनःशास्त्रवेत्ता इस अवचेतन मन की खोज बहुत पहले कर चुके थे। पर यूरोपवालो के लिए यह निश्चय ही नयी खोज थी। इसका अर्थ यह न समझना चाहिए कि शेक्सपीयर तथा गेटे जैसे विश्व-विश्रुत यूरोपियन कवि और मनीषी भी अवचेतन मन के अस्तित्व से अपरिचित थे। वे केवल उसके अस्तित्व से ही नहीं बल्कि उसके गहन रहस्यमय क्रियाचक्र से भी भली भाति परिचित थे। ससार का कोई भी श्रेष्ठ साहित्यिक—चाहे वह किसी भी युग का हो—मानव-मन के गहन और सूक्ष्म रहस्य-चक्रो से अपरिचित रह ही कैसे सकता है? उसकी श्रेष्ठता और विशेषता ही इस मूल तथ्य पर निर्भर करती है कि वह मानव के इस गहन-जाल-जटिल मन की अगाध रहस्यमता के भीतर डूबकर वहा से जीवन के मूल संचालक तत्वो की खोज और छानबीन करके जगत् की महान समस्याओ को रसात्मक रूप मे सामने रखता है और उनके सुलझाव के सुझाव भी अपने दृष्टिकोण से—आभास रूप मे दे देता है। पर इतना अवश्य है कि शेक्सपीयर और गेटे, फ्रायड और युंग की तरह अवचेतन मन को कोई निश्चित नाम न दे सके और विशुद्ध कलाकार होने

के कारण न तो उसकी वैज्ञानिक पृष्ठभूमि खड़ी कर सके, न उसके शास्त्रीय विवेचन ही मे अपनी बुद्धि को खपा पाये।

फ्रायड ने चूँकि वैज्ञानिक आधार पर अवचेतन मन सबधी सिद्धात की स्थापना की और वैज्ञानिक ही पद्धति से उसका विश्लेषण और विवेचन किया, अतएव इस कोरे वैज्ञानिक युग मे उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या अत्यन्त लोकप्रिय हो उठी। उसकी लोकप्रियता का एक कारण यह भी था कि उसने यौन प्रवृति को मानव-मन (फलतः मानव-जीवन) की मूल परिचालिका शक्ति माना है। उसका कहना है कि सभ्यता के विकास के साथ साथ मनुष्य यौन-प्रवृत्ति के खुले प्रदर्शन को सामाजिक दृष्टि से निंदनीय अतएव नैतिक दृष्टि से घृणित समझने लगा और वह उस विशेष प्रवृत्ति से सबधित मनोवेगो को भरसक अपने मन के भीतर दबाते रहने का प्रयत्न करता चला आता है। पर वे दमित मनोवेग एकदम लुप्त नहीं हो जाते, बल्कि उसके सचेत मन के नीचे मन के अवचेतन भाग मे एकत्रित होते रहते हैं। इसे फ्रायडियन भाषा में यो भी कहा जा सकता है कि सचेत मन की अनुभूति के परे दमित मनोवेगों का सचित पुंज ही मानव का अवचेतन मन है। जब विशेष अवसरों पर, किन्ही असाधारण घटनाओ के धक्के के कारण उन दमित मनोवेगो में भूकप आ जाता है या मथन-क्रिया आरभ होने लगती है तब वे सचेत मन द्वारा भूली हुई प्रवृत्तिया फिर मन की ऊपरी सतह पर आकर टकराने लगती हैं, और फिर सचेत तथा अवचेतन मन के बीच द्वन्द्व मचता है, जिसके फलस्वरूप विविध प्रकार की मानसिक उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं, जिन्हे अगरेजी में कहते हैं 'काम्प्लेक्सेज'। फ्रायड ने यह निर्देशित किया है कि हम नींद की अवस्था में—तथा जाग्रत अवस्था में भी—जितने भी स्वप्न देखते हैं वे बदले हुए रूपो मे हमारी दमित यौन-भावनाओं को ही विस्फुटित करते हैं। उसके कथनानुसार, हमारे स्वभाव की जितनी भी विकृतिया हैं उनका मूल कारण दमित यौन प्रवृत्ति है, और जितनी सुकृतिया या सुसस्कृत और समुन्नत प्रवृत्तिया हममे पायी जाती हैं वे भी दमित यौन-प्रवृत्ति के उदात्तीकृत रूप हैं। गरज यह कि मानव-जीवन को प्रगति की ओर बढ़ानेवाली अथवा विकृति की ओर पीछे घसीटनेवाली मूल परिचालिका शक्ति एक ही है, और यह है यौन-

प्रवृत्ति ! यह कैसा एकागीय और सकीर्ण दृष्टिकोण है, विशेषज्ञों को यह बताने की आवश्यकता न होगी। यह ठीक है कि यौन-प्रवृत्ति के भीतर एक बहुत बडी अणु-शक्ति निहित है, जिसके अनियन्त्रित विस्फोट से मनुष्य के समस्त जीवन पर भयावह प्रभाव पड सकता है तथा जिसके सुनियन्त्रण से जीवन के सुचारु संचालन मे एक बहुत बडी सहायता मिल सकती है। पर समस्त मानवीय भावनाओ मनुष्य की सभी सुख-दुःखमयी वेदनाओ और आकाक्षाओ की मूल- नियता एकमात्र यही प्रवृत्ति है, ऐसा समझना घोर भ्रामक होगा। असख्य मानवीय मूल प्रवृत्तिया ऐसी हैं, जो यौन-भावना से तनिक सी संबंध नही रखती, और जो मानव के सघर्षमय जीवन को कुछ निश्चित दिशाओं की ओर धक्का देती रहती हैं।

फ्रायड के मत से, प्रत्येक व्यक्ति अपने अवचेतन मन का निर्माण अपने ही जीवन काल मे स्वतत्र रूप से करता है, यद्यपि मूल नियम सबके लिए एक ही है। इस भारी भ्राति को युङ्ग ने दूर करने का प्रयास किया है, और उसने 'सामूहिक अवचेतन मन' का सिद्धात खोज निकाला है, जो भारतीय आध्यात्मिक मनोविज्ञान के लिए कोई नया सिद्धात नही है। युग का कहना है कि मानव के अवचेतन मन का महत्वपूर्ण निर्माण सामूहिक और सामाजिक कारणो से समष्टिगत रूप से हुआ, व्यक्तिगत रूप से नहीं। आदिमकाल से सभ्यता के विकास-क्रम से मानवीय चेतना मे जो नयी-नयी प्रवृत्तिया उभरती चली गयीं उनमे समय की प्रगति के साथ-साथ परिवर्तन होते चले गये। पिछली मूल प्रवृत्तियो का विनाश नही हुआ, वे सामूहिक मानव के अवचेतन मन में दब गयी और सस्कार रूप मे अवशिष्ट रह गयी। उनके स्थान पर जो नयी परिवर्तित और सुसंस्कृत प्रवृत्तिया आगे आयीं वे भी समय के क्रम से पुरानी पड गयीं और सामूहिक अवचेतन मन मे जा छिपीं। उन सुसस्कृत प्रवृत्तियों मे नया रग चढ़ा। और यह क्रम बराबर जारी रहा। जिन पुरानी प्रवृत्तियों को सामूहिक मानव समष्टिगत अवचेतन मे दबाता रहा वे आज के मानव के भीतर उसी रूप में सचित हैं। साधारण अवस्था मे सचेत मन को उनका पता नहीं चलता, पर असाधारण अवस्था में वे जब पूरे प्रवेग से विस्फुटित हो उठती हैं तब सचेत मन मे भारी तहलका मच जाता है।

युंग के मत का भाष्य मैंने अपने ढग से किया है। मेरे मत से यह सिद्धांत फ्रायडियन अवचेतन के सिद्धान्त से बहुत आगे बढ़ा हुआ है। पर मैं अपने निजी अनुभवो से एक-दूसरे ही सिद्धांत पर पहुँचा हूँ। मेरे मन से मानवीय मन का विभाजन केवल दो या तीन खडो में नही किया जा सकता। मनुष्य का मनोलोक केवल सचेत मन, अर्द्धचेतन मन तथा अवचेतन मन तक ही सीमित नही है। वह असंख्य स्तरो मे विभक्त है, जिनमे से अधिकाश स्तर साधारण चेतना की अवस्था मे हमारी अनुभूति के लिए अज्ञात रहते हैं। जिन अवाछित प्रवृत्तियो का हम दमन करते जाते हैं वे किन्ही स्तरो में जाकर उन्ही मे घुलमिल जाती है। प्रतिक्षण एक-न-एक अज्ञात स्तर हमारे सचेत मन को प्रेरणा देता रहता है। पर असाधारण अवस्थाओ में एक नही अनेक स्तर, एक साथ दूसरे से टकराते हुए, सचेत मन पर आकर हमला करते हैं और एक प्रचड मानसिक भूकप की अवस्था उत्पन्न कर देते है। अन्तस्तल मे निहित कौन स्तर कब और क्यो उठकर तूफान मचा बैठेगा, इसका कोई भी निश्चित नियम नहीं है। पर इतना सभव है कि यदि अन्तर्जीवन का अध्ययन उचित रूप से करने का अभ्यास डाला जाय, और उसके विश्लेषण की समुचित विधि का ज्ञान हो जाय तो यह जाना जा सकता है कि किस विशेष मानसिक तूफान के अवसर पर किस विशेष कोटि के स्तर की कौन विशेष प्रवृत्तिया ऊपर को उठ रही हैं। इस ज्ञान का फल यह देखा गया है कि वे व्यक्तिविनाशी अथवा समाजघाती तूफानी प्रवृत्तिया हमारे मन की सतुलित अवस्था मे कोई विकार या विभीषिका उत्पन्न नही कर सकती। साहित्य में मनोविश्लेषण का मै यही महत्व मानता हूँ। व्यक्तिगत अथवा समष्टिगत मानव मन के भीतर के विभिन्न स्तरो से जो आत्मकामी अथवा असामाजिक प्रवृत्तिया समय-समय उठती रहती हैं, उनका विश्लेषण करके उनके मूलसूत्र से यदि रसग्राही जनता को परिचित कराया जाय तो बहुत सी मानसिक उलझनो और असंतुलित मनोविकारो से मुक्त होने मे उन्हे सहायता मिल सकती है। कुछ लोग यह समझते हैं कि केवल बाह्य जीवन का विश्लेषण ही आवश्यक और उपयोगी है, अंतर्जीवन के विश्लेषण से विविध प्रकार के शोषणों से पीड़ित जनता का कोई लाभ नहीं हो सकता। ऐसे लोगो से मैं

अपने पिछले लेखो मे बार-बार यह निवेदन कर चुका हूँ कि वाह्य जीवन का अतर्जीवन पर जितना प्रभाव पडता है, अतर्जीवन का वाह्य जीवन पर उसमे कई गुना अधिक पडता है। आज ससार मे जितने भी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक मतवाद एक दूसरे के विरोधी रूप मे प्रचलित हैं उन सब की विशिष्टता के मूल मे कुछ विशिष्ट वर्गों की विशिष्ट ही मानसिकता काम कर रही है। स्मरण रहे कि मैं यह कतई अस्वीकार नही करता कि वाह्य जीवन का कोई प्रभाव व्यक्तिगत तथा सामाजिक निर्माण अथवा सामूहिक सगठन मे नही पडता। वाह्य जीवन का प्रभाव अवश्य पडता है, पर एक सीमित रूप में। यह तार्किक झगडा इस क्षेत्र मे भी किसी हद तक उत्पन्न हो सकता है कि पहले पेड की उत्पत्ति होती है या बीज की। क्योकि वाह्य जीवन किसी न किसी हद तक अतर्जीवन को प्रभावित करता है और अतर्जीवन वाह्य जीवन की मूल प्रेरिका-शक्ति के रूप मे काम करता है। पर यदि तुलनात्मक रूप से देखा जाय तो अतर्जीवन का महत्व बहुत अधिक व्यापक और गहरा सिद्ध होगा। एक-बटा दस वाह्य जीवन जब नौ-बटा दस अतर्जीवन से मिलता है तब सपूर्ण और समन्वित मानवीय व्यक्तित्व का निर्माण होता है। पर चूँकि एक-बटा दस जीवन सब समय हमारे सचेत मन की जानकारी मे प्रत्यक्षवत् रहता है, इसलिए सामूहिक मानव उसी को अधिक महत्व देने के लिए लालायित हो उठता है, जब कि नौ–बटा दस व्यक्तित्व के एकदम भीतर छिपा रहता है, इसलिए जन-समूह सदा उसकी उपेक्षा करना चाहता है, भले ही वह एक-बटा दस (अर्थात् वाह्य) जीवन का मूल परिचालक हो।

मैं यहां पर एक बात और बता देना आवश्यक समझता हूँ। मैं मन की एक स्वतंत्र सत्ता मानता हूँ जो कभी सृष्टि तत्वो के भीतर बीज रूप मे सन्निहित रहती है और कभी उसके मूल आधार के रूप मे। जीवन के विकास-क्रम में जो वाह्य तत्व अन्तस्तत्वो में बदल जाते हैं और जो अतस्तत्व वाह्य तत्वों को प्रेरित करते हैं उन दोनो से मन की मूल सत्ता मे कोई ह्रास या वृद्धि नही होती। जिसे मैंने अतर्जीवन कहा है उसकी स्थिति मन की उस मूल सत्ता के ऊपर है। वर्तमान लेख में वर्णित मनोवैज्ञानिक विषय कहीं

आध्यात्मिकता की ओर न बढ़ जाय, इस आशका से मैं इस चर्चा को यहीं पर रोके देता हूँ।

जो भी हो, जैसा कि मै पहले निर्देशित कर चुका हूँ, किसी भी युग का श्रेष्ठ साहित्यकार कभी अतर्जीवन की उपेक्षा नही कर सकता, क्योकि वह जानता है कि केवल बाह्य जीवन को लेकर चलने से उस मानवीय विकास और प्रगति का कोई अर्थ नही रह जाता जो पशु जीवन और मानवीय जीवन के व्यवधान को स्वीकार नही करती। इसलिए उसकी साहित्य-सर्जना अतर्जीवन की पृष्ठभूमि मे ही प्रतिफलित होती है, और अंतर्जीवन के गहरे विश्लेषण द्वारा ही वह बाहरी जीवन की समस्याओ के समाधान की ओर संकेत कर पाता है।

अतर्जीवन और बाह्य जीवन के बीच में एक अदृश्य पुल है जो सभी व्यक्तियो को नही दिखायी देता। पर उच्चतम कोटि के लेखक और कवि की सूक्ष्म अतर्भेदिनी दृष्टि से यह पुल छिपा नही रहता। और वह अपनी समस्त सर्जनात्मिका शक्ति को इस उद्देश्य से नियोजित करता है कि बाह्य जीवन की यथार्थता के प्रदर्शन और अतर्जीवन के विश्लेषण द्वारा वह उस सयोजनात्मक पुल का परिचय, अपने दृष्टिकोण से, ससार को दे सके।

जो द्वितीय या तृतीय श्रेणी के लेखक या कवि इस पुल के ओर या छोर के एकागीय प्रदर्शन या विश्लेषण मे अपनी सारी शक्ति को खर्च कर देते हैं उनकी प्रतिभा चाहे कैसी ही कलाबाजिया क्यों न दिखाये वह कभी साहित्य की कलात्मक सृष्टि के व्यापक रूप को नही अपना सकती और न उसके मूल उद्देश्य को ही पकड पाती है। प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप में फ्रायडियन यौन-तत्वात्मक मनोविश्लेषण से प्रभावित कलाकारों ने केवल अतर्जीवन के विश्लेषण को ही कलात्मक साहित्य का अर्थ और इति माना। विश्लेषण को उन्होने केवल विश्लेषण के लिए अपनाया (वह विश्लेषण भी ऐसा जो फ्रायड के एकागीय और सकुचित दृष्टिकोण तक सीमित था)। इनके इन एकागीय प्रतिभा-प्रकाशन से बाह्य जीवन की यथार्थता और अंतर्जीवन के उद्वेलन के विरोधात्मक पहलू पर ही अधिक जोर पड़ा, उन दोनों का समन्वयात्मक और संश्लेषणात्मक सूत्र कहा पर है, इसे वे फ्रायडवादी कलाकार नही देख पाये

और यदि देख भी पाये हो तो उसे दिखाने की या तो उनमे समर्थता नही थी या प्रवृत्ति। ऐसे कलाकारो मे 'युलीसीज' के सुप्रसिद्ध लेखक जेम्स ज्वाइस और 'लेडी चेटर्लीज लवर्स' के लेखक डी० एच० लारेन्स की गणना की जा सकती है। केवल वाह्य जीवन को लेकर चलनेवाले लेखको मे कुछ लोग 'ऐन्ड काइट फ्लोज डाउन' के लेखक श्लोखोव की गिनती करते है। पर मैं ऐसा नही समझता। श्लोखोव ने वाह्य जीवन के यथार्थवादी प्रदर्शन के साथ ही अतर्जीवन के विश्लेषण को भी यथेष्ट महत्व दिया है और सच्ची रूसी प्रतिभा के अनुसार दोनो दृष्टिकोणों के सुन्दर समन्वयात्मक सयोजन का प्रयास किया है। उक्त एकागीय कोटि मे रूसी क्राति के बाद से लेकर लेनिन की मृत्यु के समय तक के छोटे-मोटे रूसी लेखक आते है। यह बात ध्यान मे रखने योग्य है कि लेनिन ने साहित्य मे एकागीय दृष्टिकोण को कभी स्वीकार नही किया था, और यह बात सर्वविदित है कि गोर्की ने अपने साहित्य मे जीवन के दोनों (अतर और वाह्य) रूपो को अपनाया, और अतर्जीवन के विश्लेषण को वाह्य जीवन से अधिक ही महत्व दिया, कम नही। पर लेनिन के शासन काल के रूसी लेखक एक भारी गलतफहमी से परिचालित होकर कला मे केवल वाह्य जीवन के विश्लेषण के पक्षपाती हो गये।

हिन्दी के क्षेत्र मे भी आज कुछ वर्ग ऐसे हैं जो कलात्मक साहित्य में अंतर्जीवन के विश्लेषण की कोई उपयोगिता नही मानते, उनके मत से वाह्य जीवन ही सब कुछ है और साहित्य मे केवल उसी का समीक्षण और विश्लेषण अभीष्ट है। और कुछ ऐसे लेखक तथा आलोचक हैं जो केवल अतर्जीवन के विश्लेषण को ही साहित्य-सर्जना का एकमात्र आधार और उद्देश्य मानते हैं। पर मेरे मत से दोनो के बीच के सामजस्यात्मक सूत्र को खोज निकालना ही श्रेष्ठ कलाकार का लक्ष्य होना चाहिए, और साथ ही केवल विश्लेषण पर ही जोर दिया जाना मैं घातक समझता हूँ जब तक कि उस विश्लेषण की परिणति सश्लेषण मे न की जाय।

युग-समस्याएँ और साहित्यकार

आज सास्कृतिक सकट अत्यत विकट रूप मे हम लोगो के आगे उपस्थित है, इसलिये सभी साहित्यिक और सास्कृतिक कलाकारो के लिये इस बात की बहुत बडी आवश्यकता आ पडी है कि वे सम्मिलित रूप मे सगठित होकर इस अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करे कि इस सकट के निवारण के लिये उपयुक्त उपाय क्या हो सकते है।

इसके लिये हमे सबसे पहले सकट के मूल कारण की खोज करनी होगी। आज के युग मे विश्वव्यापी आर्थिक विषमता और राजनीतिक प्रभुत्ववाद के फलस्वरूप यथार्थ जीवन की प्रतिदिन की समस्याए ऐसी जटिल हो गयी है और जटिलतर होती चली जा रही है—कि जन-साधारण को नोन-तेल-लकडी की चिता से ही फुर्सत नही मिलती, जो प्रत्यक्ष पार्थिव और भौतिक संकट जनता पर आ टूटा है उसी की समस्याओ को सुलझाने मे उसकी सारी शक्तिया खर्च होती चली जा रही हैं। साहित्यिक और सास्कृतिक सकट की ओर ध्यान देने का अवकाश आज इने-गिने चितको को छोडकर और किसी को नही है। नगी-भूखी जनता से हम कैसे यह आशा करे कि वह साहित्यिक सृजन की ओर ध्यान दे? भूख-प्यास सबंधी जो प्रतिदिन की समस्याएँ उसके सिर पर हथौडे चला रही है उनकी अवज्ञा करके वह कैसे साहित्य और कला को अपनावे और उसके विकास मे सहायक हो? उसे यह बोध कैसे हो कि साहित्यकार उसे यथार्थ जीवन की उलझनो से मुक्त करने मे सहायक सिद्ध हो सकता है?

इसका कारण यह है कि साहित्य और साहित्यकार के सबध मे हमारे यहाँ युगो से एक भ्रामक धारणा बनी हुई है। हमारे यहां की क्या शिक्षित और क्या अर्द्धशिक्षित जनता सर्जनात्मक साहित्य को या तो विशुद्ध मनोरजन और मानसिक विलास की सामग्री मानती

है या ऐसी वस्तु जो हमे आनन्द की सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान कर सके। उस अनुभूति को लोग साधारणतः देश काल के अतीत मानते है। युग की, राष्ट्र की और अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र की (अर्थात् देश की और काल की) समस्याओ से साहित्य-कलाकार का सबध किसी भी रूप में हो सकता है, यह मानने को हमारी रूढिवादी जनता तैयार नहीं है। वह उसकी ऐकातिक साधना पर विश्वास करती है और युग-जीवन के प्रति उसका कोई भी उत्तरदायित्व हो सकता है, ऐसा वह नहीं समझती। यह धारणा यदि केवल जन-साधारण तक ही सीमित होती तो भी गनीमत मानी जाती, पर हमारे बहुत से प्रतिष्ठित आलोचक और स्वयं साहित्य-कलाकारो के मन मे भी इस विषय मे अधिक विभिन्नता नहीं पायी जाती। हमारे अनेक मान्य आलोचको की सम्मति मे साहित्य-कलाकार को मानव-हृदय के स्थायी भावो और जीवन के तथाकथित शाश्वत सत्यो को ही अपनी कृतिया मे कलात्मक रूप से प्रस्फुटित करना चाहिये और सामयिक समस्याओ की अवज्ञा करके, रसात्मक वाक्यो द्वारा मानव-मन मे केवल तथाकथित 'दिव्य अनुभूति' जगाने और 'दिव्य चेतना' उसकाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

अब प्रश्न यह है कि इस तरह की धारणा मे, जो हमारे सास्कृतिक समाज मे घर किये हुए है, सचाई का अंश कहा तक है? क्या वास्तव मे साहित्यकार का केवल इतना ही कर्त्तव्य है कि वह प्रतिदिन के यथार्थ जीवन की कठोरता से मुंह मोडकर, संघर्ष से कतराकर केवल अपनी अन्तश्चेतना के 'दिव्य आनन्द लोक' मे निमग्न रहे और उससे व्यक्तिगत 'आनन्दानुभूति' का आभास अपनी रचनाओ मे देता चला जाय? व्यक्तिगत रूप से मेरा यह विश्वास है कि साहित्य-कलाकार के सबध मे इस प्रकार की धारणा एकदम सकीर्ण, संकुचित, एकागीय और घोर भ्रामक है। यह सामंती युग के अलस विलासिता-पूर्ण मस्तिष्क की उपज है, जिसे चरम सत्य मान कर आज भी हमारे कई साहित्यालोचक और साहित्यकार बुरी तरह भटक रहे हैं। साधारण जनता के और उनके बीच में जो गहरी खाई आज हम देखते हैं उसका प्रमुख कारण यही विश्वास है।

हमारे यहाँ प्राचीन काल मे साहित्य-कलाकार के संबंध में इस तरह की कोई धारणा नही पायी जाती थी। वैदिक युग से लेकर महाभारत काल तक क्रांतद्रष्टा ऋषि और कवि दो पर्यायवाची शब्द माने जाते थे। पर ऋषि शब्द के ठीक अर्थ के संबंध मे भी जनता मे गलत धारणा फैली हुई पायी जाती है। लोगो को साधारणतः ऋषि शब्द से एक ऐसे व्यक्ति का बोध होता है जो ब्रह्मविद्या के सूक्ष्म और रहस्यात्मक तत्त्वो को समझता और समझाता हो। पर ऋग्वेद मे ऐसे ऐसे ऋषियो की रचनाएँ संकलित है जो युद्ध और राजनीति से लेकर अन्नोत्पादन तक सभी विषयो पर अपने अनुभवो और उपदेशो से जनता को परिचित करा गये है। ।

पर बात चल रही थी क्रांतद्रष्टा ऋषियो या कवियो के संबंध मे। वैदिक कवियो ने प्रकृति से एकात्म होकर उसके गीत अवश्य गाये है, पर साथ ही कठोर यथार्थ जीवन की समस्याओ की तनिक भी उपेक्षा उन्होने नही की है। क्रांतद्रष्टा ऋषियो ने सामाजिक और राजनीतिक संघर्षो को अपनी रचनाओ के विषय-रूप मे ग्रहण करके उन युग-समस्याओं के समाधान द्वारा जनता को सामाजिक और सामूहिक उन्नति के पथ की ओर निरंतर अग्रसर करते रहने के प्रयास किये हैं। आर्यो और अनार्यो के द्वन्द्वात्मक संघर्ष से भी लाभ उठाकर उन्होने जीवन की प्रगति के कई नये तत्त्व खोज निकाले थे। यही परंपरा रामायण काल तक चली गयी और महाभारत मे पराकाष्ठा को पहुँच गयी।

महाभारत अपने युग की समस्याओं का ही काव्य है। एक गंभीर यथार्थवादी लेखक की तरह महाभारतकार ने अपने युग की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को उठाकर सच्चे अर्थो मे एक महान काव्य की रचना की है। महाभारतकालीन युद्ध को मैं सबसे पहला विश्व-महायुद्ध मानता हूँ। उस युद्ध मे केवल भारतीय महादेश के राजाओ ने ही भाग नही लिया था, वरन् चीन, ईरान, यूनान, अफगानिस्तान, कंबोज—और संभवतः रोम के भी सैनिको ने उसमे भाग लिया था। रोमनो को महाभारत मे रमण कहा गया है। उस महाकाव्य के प्रारंभिक पर्वो मे युद्ध के उपकरण जुटते है, फिर युद्ध की अनिवार्यता से चिंतित होकर उस युग के सर्वमान्य नेता कृष्ण उसे टालने के उद्योग मे कोई बात उठा

नही रखते; उसके बाद अनिवार्य परिस्थिति आ ही जाती है। दोनो पक्ष महायुद्ध की तैयारियो मे जुट जाते हैं। उस विश्व-विघातक महायुद्ध के बाद युद्ध-जनित दयनीय परिस्थितिया सामने आती हैं। अत मे स्थायी शाति का महा-उद्योग चलता है।

यदि आज कोई महाकवि द्वितीय महायुद्ध पर कोई महाकाव्य लिखे, उसके सूत्रपात से लेकर अतर-राष्ट्रीय दाव-पेचो के साथ ही युद्ध के विस्तृत विवरणो के साथ उसकी लोमहर्षक भयकरता पर प्रकाश डाले और अत मे संधि के बाद अतर-राष्ट्रीय जनता की उस घोर दयनीयता का चित्रण करे जो महायुद्ध-जनित परिस्थितियो की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उसे सहन करनी पडी है, और अत मे स्थायी शाति पर विचार करके अपना अतिम पर्व समाप्त करे, तो वह बहुत कुछ महाभारत के ही ढग की चीज होगी।

महाभारत मे उठायी गयी समस्याओ के समाधान से हम सहमत हो या न हो, पर इतना तो मानना ही पडेगा कि वह सामतवादी विलासिता के उपकरणो से रचित नही बल्कि युग की ज्वलत समस्याओ के प्रकाश से प्रज्वलित महाकाव्य है। और साथ ही इस सबध मे भी शायद ही किसी का मतभेद हो कि यह सब कुछ होने पर भी वह एक महान साहित्यिक कृति है, जो आज के युग मे भी हमे उसी तरह रोमाचित करती है जिस तरह अपने युग के पाठको को करती रही होगी।

इस प्रकार हम देखते है कि युग की समस्याओ को लेकर भी श्रेष्ठतम साहित्यिक कलाकृतियो की रचना हो सकती है। केवल कायर कलाकार ही युग के कठोर यथार्थ-जीवन के प्रश्नो से कतराते है। उन्नीसवी शती मे पाश्चात्य कलाकारो ने, विशेष कर रूस और फ्रास के श्रेष्ठ उपन्यासकारो ने, युग की समस्याओ को खुले तौर से अपनाना आरभ कर दिया था। इससे न उनकी कला मे कोई त्रुटि आयी न आपेक्षिक स्थायित्व मे। हमारे यहा रवीन्द्रनाथ ने अपने उपन्यासो मे युग-समस्याओ को उठाया था। अक्सर लोग यह प्रश्न किया करते है कि एक युग की समस्याओ से सबधित रचना दूसरे युग को कैसे प्रभावित कर सकती है? और जो रचना अपने से

बाद के युगों पर अपना प्रभाव न जमा सके उसका महत्त्व ही क्या हो सकता है ? ऐसी कला-कृति अमरत्व और स्थायित्व कैसे प्राप्त कर सकती है ?

महाभारत के दृष्टांत से यह हम देख चुके हैं कि एक युग की समस्याओं से संबंधित रचना आनेवाले कई युगों तक भी अपना प्रभाव कायम रख सकती है, बशर्ते उसका लेखक विशेष प्रतिभाशाली हो और अपनी रचना में उठायी गयी युग की समस्याओं को जीवन की मूलगत समस्याओं से संबद्ध कर सकने की कला में निपुण हो। महाभारतकार ने युग की समस्याएँ अवश्य उठायीं और उनके समाधान की ओर भी पूरा प्रयास किया, पर युग की वे समस्याएँ ही उसकी रचना की अथ और इति बन कर नहीं रह गयीं, उन्हें उसने सामूहिक मानव-प्रकृति के ह्रास और विकास के चक्र के साथ इस तरह संबद्ध किया है कि उद्देश्य और विधेय एक-दूसरे के अविच्छिन्न अंग बन गये हैं। यही महाकवि की कला है। यही वह जादू है जो आज के युग में भी हमारे सिरों पर चढ़कर बोल रहा है। रही अमर और स्थायी साहित्य की बात। मैं अमरता और स्थायित्व को सापेक्ष शब्द मानता हूँ। इस निरंतर गतिशील संसार में कोई भी कला-कृति चिरस्थायी नहीं रह सकती। प्रत्येक रचना, चाहे वह कितनी ही महान क्यों न हो, अपने साथ अपनी सीमित आयु की अपेक्षाकृत दीर्घ या लघु अवधि का पट्टा लिये रहती है। जो रचना जितनी ही महान होगी उसकी आयु उतनी ही लंबी होगी, पर अंत में एक न एक दिन विस्मृति की महाकब्र में उसका विलय निश्चित है। महाभारत संसार की श्रेष्ठतम कलाकृतियों में है इसलिये वह आज कई हजार वर्षों बाद भी जीवित है; पर जो कलाकृतियाँ अपने युग से सौ दो सौ साल बाद तक भी जीवित रहें उनका भी काफी महत्त्व मैं मानता हूँ—इस अर्थ में कि उतने अर्से तक वह निरंतर प्रगतिशील सांस्कृतिक तत्त्वों के साथ दौड़ लगाती रही और अंत में अपने स्थूल रूप को मिटाकर अपने सूक्ष्म तत्त्व को उस समय तक की प्रगति के तत्त्वों के साथ एक रूप में मिला कर विलीन हुई।

जो भी हो, यह हम देख चुके कि युग की समस्याओं को साहित्य में उठाने से कोई कलाकृति हीन नहीं हो जाती, बल्कि उसका महत्त्व और बढ़

सकता है—बशर्ते कलाकार प्रतिभाशाली हो और युग की समस्याओ को जीवन की मूलगत समस्याओं मे सबद्ध करने की कला से परिचित हो। साथ ही, इस सिलसिले मे एक और बात की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। किसी भी श्रेष्ठ कलाकृति मे युग की केवल उन्ही समस्याओ को प्रधानता दी जाती है जो सारे युग की समग्र मानवता की सामूहिक गति से संबंध रखती हो, जैसे युद्ध और स्थायी शाति, जन-जीवन मे पायी जानेवाली व्यापक आर्थिक विषमता बनाम स्थायी सामूहिक समता आदि-आदि। वैसे राशनिंग व्यवस्था भी आज के युग की एक समस्या है। कोई कलाकार चाहे तो इस समस्या को भी उठा सकता है और अपनी कहानी मे अच्छी तरह से उसका निर्वाह भी कर सकता है। पर किसी बडी कलाकृति मे उसके लिये इस कारण स्थान नही हो सकता कि वह आज के जीवन की कोई प्रधान समस्या नही, बल्कि किसी एक मूल समस्या की उपशाखा है। वह मूल समस्या है युग की आर्थिक विषमता और अंतर-राष्ट्रीय क्षेत्रो मे राजनीतिक प्रभुत्ववादिता के कारण अन्न का असम-उत्पादन और असम-वितरण। कोई श्रेष्ठ कलाकार जब इस समस्या को अपनी रचना मे उठायेगा तो वह जीव की उस विषमता का यथार्थ चित्रण करने के साथ ही उसके मूल में स्थित मानव की रूढिवादी वैयक्तिक स्वार्थपूर्ण और संचयपरायण प्रवृत्तिया पर भी आघात करेगा; पर उस सारी योजना के मूल में उसका उद्देश्य निश्चय ही यह रहेगा कि सामूहिक मानव-मन की स्थूल, सकीर्ण और विकृत प्रवृत्तियो के परिष्करण द्वारा उन्हे सूक्ष्म, उदार, स्वस्थ और सुन्दर बनाने के सुझाव कलात्मक उपायो से उपस्थित करे और सामूहिक जीवन को व्यक्तिगत अथवा गुटगत स्वार्थ-जनित वैषम्य के नरक से मुक्त करके यथार्थ-जीवन के उन नारकीय तत्त्वो के ही समुचित उदात्तीकरण द्वारा पृथ्वी की प्रत्यक्ष मिट्टी के ऊपर ही सच्चे स्वर्ग की स्थापना का रास्ता दिखावे। इस प्रकार वह युग की समस्याओं को उठाता हुआ भी उन्हें जीवन की मूलगत समस्याओ से संबद्ध कर सकेगा। और यही संबद्धता उसकी रचना को आपेक्षिक स्थायित्व प्रदान करने में सहायक होगी।

आज साहित्यकार का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं ने आज जीवन को चारों ओर से इस कदर छा लिया है कि चाहने पर भी साहित्यकार उनसे घबराकर भाग नहीं सकता। भागने का प्रयत्न ही आत्मघाती सिद्ध होगा। एकांत में वंशी बजाकर दिव्य चेतना की अनुभूति में मग्न होकर, दैवी जीवन की महत्ता का राग अलापना आज प्रलाप के समान सिद्ध होगा। यह ठीक है कि मानव के विकास का अन्तिम लक्ष्य सामूहिक रूप से दिव्य चेतना की अनुभूति ही है। पर जीवन की कठोर यथार्थता और संघर्षशीलता को भुलाकर आँखों को मूँद लेने से ही उस महाचेतना की सच्ची अनुभूति उपलब्ध नहीं हो सकती। आँखों को मूँद लीजिये और ध्यानमग्न हो जाइये तो सर्वत्र दिव्य ही दिव्य चेतना है, पर आँखें खोलते ही आप अपने को फिर उसी कठोर मिट्टी के बीच में पायेंगे जिस पर खड़े रहने के लिये भी आज की विषम जीवन-व्यवस्था में आपको परमिट लेने की आवश्यकता है। जैसा कि कहा जा चुका है, दिव्य चेतना की उपलब्धि मानव-जीवन के विकास का अंतिम लक्ष्य है। पर उस अन्तिम लक्ष्य को आप सीढ़ी दर सीढ़ी आगे बढ़कर ही प्राप्त कर सकते हैं, एक क्षण में आँखें मूँद कर नहीं। और एक एक सीढ़ी क्षुरस्य धारा की तरह कठिन और दुर्गम है। इसलिये आज सच्चे साहित्य-साधकों का कर्त्तव्य है कि वे जीवन की कठोर यथार्थता को स्वीकार करके सामूहिक जीवन में सम-व्यवस्था लाने और सम-सौन्दर्य बिखेरने के उद्देश्य से एक-एक रोड़े को हटाने, एक-एक पत्थर को तोड़ने और जीवन की प्रगति को रोकनेवाली एक-एक दीवार को ढाने के संगठित प्रयत्नों में सम्मिलित हों। साहित्यकार अपने ही ढंग से यह कार्य कर सकता है। यथार्थ जीवन के सहज, कलात्मक चित्रण द्वारा उस जीवन को ठीक रास्तों से मोड़ने के लिये दिशा-निर्देशक का काम कर सकता है। मानवता की सांस्कृतिक चेतना निरंतर स्थूल के निराकरण और सूक्ष्म के परिस्फुटन की ओर बढ़ते रहने का प्रयास करती आयी है। इसलिये सूक्ष्म का परिस्फुटन जितना महत्त्वपूर्ण है, स्थूल का निराकरण उससे कुछ कम आवश्यक नहीं है। क्योंकि उसके बिना सूक्ष्म का परिस्फुटन संभव ही नहीं है। आज के जीवन में विकृत और स्थूल तत्त्व इतने

अधिक परिमाण मे सचित हो गये हैं कि उनके निराकरण के लिये अत्यन्त कठिन सम्मिलित प्रयास साहित्यकारो को करना है। उसके बाद ही वे सूक्ष्म सौन्दर्य-तत्त्व जनता को दे सकेंगे, उसके पहले नही। इसलिये साहित्य-साधक को आज यह कठोर कर्त्तव्य स्वीकार करना ही होगा। महत् सुन्दर जीवन के निर्माण के उद्देश्य से एक पत्थर तोडना भी बहुत बडी सास्कृतिक साधना है। यह साधना उस प्रेयमूलक अनुभूति मे कई गुना अधिक श्रेयमूलक है जो जीवन से अलग हट कर एकात मे वशी बजा कर दिव्य चेतना मे विलीन होने के कृत्रिम प्रयास मे प्राप्त होती है।

एक जमाना था जब साहित्य-कलाकार मानव-जीवन का विधान-निर्माता और मानव-समाज का नायक और उन्नायक था। आज जन-नेतृत्व की बागडोर राजनीतिक और आर्थिक नेताओ के हाथो मे आ गयी है। इसका एक कारण निश्चय ही यह है कि साहित्यकार ने जन-जीवन से सपर्क त्याग दिया। जीवन की मूल मिट्टी और खाद के स्पर्श और ससर्ग से भी वह बच-बच कर चलने लगा और उस मिट्टी के ऊपर एक सीमेट का चबूतरा बनाकर उसपर खडे होकर वह एक कृत्रिम सौदर्य-ससार की उपासना और कल्पित सौदर्य देवताओ की आराधना करने लगा। उसने यह नही सोचा कि यथार्थ सौदर्य की सृष्टि मूल मिट्टी की ऊपरी सतह को साफ करके, उसे गहरा खोदकर, और जीवन के नरक की सडी और गन्दी खाद से उसकी उत्पादन-शक्ति बढाकर ही हो सकती है। फल यह हुआ कि जिस कृत्रिम और जीवन-सपर्क से रहित सौदर्य-साधना मे वह जुटा उससे जनता ने मुह मोड लिया। असाहित्यिको ने इस तथ्य से लाभ उठाकर जनता पर अपने प्रभुत्व का जाल बिछा दिया।

पर आज जनता के आगे उन असाहित्यिक और प्रभुत्ववादी नेताओ की पोल भी खुल गयी है। जन-साधारण के आर्थिक शोषण और अणु-अस्त्रो के निर्माण द्वारा सामूहिक जीवन के ध्वसीकरण की जो योजनाए आज अतर-राष्ट्रीय क्षेत्रो के नियताओ द्वारा चल रही हैं उनका वास्तविक स्वरूप अब जनता के आगे प्रकट हो चुका है। इसलिये वह आज के संकट-ग्रस्त जीवन की घोर विषम परिस्थितियों मे फिर सास्कृतिक नेताओ की ओर पथ-प्रदर्शन की लालसा से टकटकी लगाकर देखने लगी है। यद्यपि अभी तक उनके

प्रति भी अविश्वास की भावना उसके मन से पूरे तौर से नहीं हटी है। क्या साहित्य-साधक का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह अपने को उस योग्य बनाकर सहस्त्रो बंधनो से जकड़ी हुई जनता को सच्ची मुक्ति का पथ प्रदर्शित कर सके? क्या वह आज की दानवीय शक्तियों से पराजित होकर अपने महत् ध्येय से च्युत होकर बैठ जाना पसद करेगा? अपनी परिस्थितियों से निराश होकर राजनीतिक और आर्थिक महाप्रभुओ का अनुशासन स्वीकार करके उसे मौन साध लेना होगा? नहीं, इस आत्मघाती मोहनिद्रा से उसे जगना ही होगा। फिर से अपने क्रांतद्रष्टा रूप को जागरित करके युग की अध प्रवृत्तियों को नया मोड देने के सगठित प्रयत्नो मे उसे जुटना ही होगा और उनके द्वारा राजनीतिक और आर्थिक पाटो के बीच मे पिसे हुए आज के जीवन को मुक्त करना होगा। कठोर यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाकर जन-जीवन के मूल मे प्रवेश करना होगा और उसके भीतर प्रगतिशील सास्कृतिक तत्त्वो के बीज बोकर सच्चे अर्थो मे सुदर और महत् सामूहिक जीवन के निर्माण मे सहयोग देना होगा।

व्यक्तिगत जीवन के घेरे मे बद्ध प्रतिभा का आज कोई मूल्य नहीं है। जो प्रतिभा जन-जीवन मे सास्कृतिक और सामाजिक चेतना जगाकर युग के बाह्य और अतर-जीवन से सबधित महत्वपूर्ण समस्याओ के समाधान मे सहायक सिद्ध न हो सके वह निष्फला और वध्या है। साहित्य और सस्कृति की प्रगति जीवन के विकासोन्मुख तत्त्वो को निरंतर आगे बढाने की ओर होनी चाहिये। साहित्य का अर्थ ही वह कला है जो जीवन के सहित अर्थात् साथ हो। इसलिये आज के अभाव और राहित्य के युग मे यदि सच्चे साहित्य की प्रतिष्ठापना करनी है तो उन सब उपकरणो को बटोरना होगा जो यथार्थ जीवन की प्रगति के साथ है। जनता की भूख-प्यास और आर्थिक सकट की समस्याओ को अपनाकर उन्हे प्रतिभा के रासायनिक स्पर्श से साहित्यिक रस मे परिणत करना होगा और फिर उस साहित्यिक रस का उपयोग सामूहिक मानव-हित के उद्देश्य से करना होगा।

यह आवश्यक नहीं है कि हम लोग पाश्चात्य देशो के प्रगतिशील साहित्यकारो के कदमो का अनुकरण करते चले जायं। अपने देश और अपने

काल की परिस्थितियो पर यथार्थवादी दृष्टिकोण से विचार करते हुए हमे स्वयं कला की नयी-नयी शैलियो का उद्भावन करना होगा और उन शैलियो द्वारा आज के बद्ध जीवन और बदी जगत् की प्रगति और मुक्ति के सबध मे नये-नये कलात्मक सुझाव उपस्थित करने होगे। बिना ऐसा किये हम मानव-जीवन के निरतर विकासोन्मुख सस्कृति के अतिम ध्येय की ओर अग्रसर न हो सकेगे।
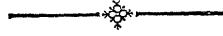
समस्त कलाओं का मूल उत्स

साहित्य-कला के स्वरूप और आदर्श के संबंध मे पिछले युगो की धारणा और आज की धारणा मे, बड़ा अन्तर पड गया है। पिछले युगो में कला एक लोकोत्तर अनुभूति का विषय समझी जाती थी और ससार के प्रतिदिन के जीवन-चक्र से उसका किसी प्रकार का सबध नही माना जाता था। हमारे अलकार-शास्त्रियों ने जिस रस को साहित्य का मूल प्राण माना था उसके सबध मे उनकी धारणा थी कि "वह स्वतः स्फूर्त और स्वतः प्रकाशित होनेवाले अखण्ड चिन्मय आनन्द से पूर्ण होता है, वह किसी बाहरी वस्तु के स्पर्श से शून्य और ब्रह्मानद की ही सम-अनुभूतिवाला होता है; वह लोकोत्तर चमत्कार से भरा होता है।" (विश्वनाथ-'साहित्यदर्पण')। पर आज का कलाकार यह मानने को तैयार नही है कि कोई भी कला 'बाहरी' (अर्थात् सासारिक) वस्तुओं के ससर्ग से एकदम रहित और लोकोत्तर चमत्कार से पूर्ण होती है। उसका विश्वास है कि ससार के प्रतिदिन के सघर्ष-विघर्षमय और पापपुण्य के सम्मिलित पीडन से क्षुब्ध, वास्तविक जीवन के भीतर से कला का रस उथलता है और कोई भी रसानुभूति अलौकिक नही हो सकती।

इसमे संदेह के लिये कोई गुजाइश नहीं है कि कला का मूल उत्स मनुष्य की सामूहिक अज्ञात चेतना है, जिसके भीतर प्राचीनतम काल से, असख्य युगों से अनत प्रकार की विचित्र वासनाएं और कामनाए सचित होती चली आयी हैं। इस अज्ञात चेतना में—अवचेतन मन मे—पुञ्जीभूत वे अनंत आकांक्षाए, वे पशु प्रवृत्तियां, प्रतिपल अज्ञातरूप से मानव के सचेत मन पर आघात करती रहती हैं। कलाकार के सचेत मन के द्वारों को वे कुछ अधिक तीव्रता से खटखटाती हैं, जिससे उसका चित्त कुछ विशेष रूप से आन्दोलित होता है और उस आन्दोलन के फलस्वरूप वह कविता, कहानियाँ आदि की रचना के लिये व्याकुल हो उठता है। इस अज्ञात विवशता-जनित व्याकुलता को ही पिछले युग के, समस्त देशों के, कलाकारों और आलोचकों

ने कला की मूल प्रेरणा माना है; यद्यपि इसका मूल कारण वे नही समझ पाये थे। हमारे यहाँ के अलंकार-शास्त्रियो की भाषा मे आत्मा के सब आवरण जब हट जाते हैं और आत्माभिव्यक्ति के लिये कही कोई रुकावट नहीं रह जाती, तभी रस की सृष्टि संभव होती है। (भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादि स्थायीभावो रस—जगन्नाथ पडित।) 'रस-गगाधर' के लेखक जगन्नाथ पडित का यह भी कहना है कि 'रस' जिस 'रति' या अनुराग की उपज है उसका पूर्व युगो से सचित वासनाओ (प्राग्निविष्ट वासना रूपः) से घनिष्ठ संबध है, और उन पुञ्जित वासनाओ के असख्य कोशो मे से कुछ कोश जब खुलने लगते है तब आनद के स्फुरण के साथ ही साथ रस का भी उद्वेलन होता है—और यही काव्य-कला या साहित्य का स्थायी रस है।

आश्चर्य की बात है कि जगन्नाथ पडित ने कला की सर्जना के सबध मे मानव मन के अतल मे निहित युगों से सचित वासनाओ के कोशो के खुलने की जो बात कही है, आधुनिक युग के मनोवैज्ञानिक भी वही बात—शब्दों के कुछ थोडे से हेर-फेर के साथ—कहते है। आधुनिक मनोवैज्ञानिको का कहना है कि कला कलाकार की अज्ञात चेतना के अतल मे अपनी जडे जमाये रहती है, और उस अतल मे युगो से—उस समय से जबकि मनुष्य पशु था—जो वासनाए और काम, क्रोध, मद, मोह की प्रवृत्तियाँ और विचित्र प्रकार की असख्य विकृतियाँ तथा सुकृतियाँ जमकर एक 'सामूहिक अवचेतना' का सम्मिलित रूप धारण किये रहती हैं, उन्हीं के विस्फोटो से कला की सृष्टि होती है।

पर इन दोनो विचार-धाराओ मे अतर यह है कि एक मनुष्य के अतर्मन मे निहित अज्ञात-वासनाओ के इन विस्फोटों का कारण स्वतःस्फूर्त (और लोकोत्तर) आनंद को मानती है, और दूसरी धारा उन्हे सभ्यता के बंधन से ग्रस्त मनुष्य द्वारा दबायी गयीं पशु-प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया का परिणाम मानती है। अब देखना यह है कि इन मूलतः भिन्न कारणो को जोडनेवाली कोई कड़ी कहीं है या नहीं।

पशु के भीतर जब भूख-प्यास अथवा केलि-क्रीडा-संबधी कोई स्वाभाविक प्रवृत्ति जागरित होती है तो वह सभ्य जगत् के किसी भी नियम के बंधन से

प्रस्त न होने के कारण, अवसर पाते ही खुलेआम उसकी पूर्ति करके जो सुख पाता है वही उसका आनंद है। पर सभ्य मनुष्य अपनी पशु-प्रवृत्ति की तुष्टि के इस स्थूल रूप को निंद्य मानता है और उसे सूक्ष्म मानसिक रूप देकर उसका ढग और ढॉचा ही बदल देना चाहता है। फल यह होता है कि वह मूल 'पशु-प्रवृत्ति' बीज रूप मे उसकी अज्ञात चेतना मे जाकर दब जाती है और केवल उसकी छायात्मक अनुभूति उसके सचेत मन मे रह जाती है। धीरे-धीरे वह उस छायात्मक अनुभूति को भी अवचेतन मन मे दबा देता है और उसके बदले एक सूक्ष्म और तथाकथित आध्यात्मिक अनुभूति उसके सचेत मन पर सचरण करने लगती है। ये सूक्ष्म, छायात्मक, आध्यात्मिक अथवा रहस्यवादी अनुभूतियॉ ही काव्य तथा दूसरे कला-सबधी क्षेत्रो मे अवतरित होती रहती हैं। पर हम यदि इन्हे स्वतःस्फूर्त, किसी प्राकृतिक वस्तु या प्रवृत्ति के स्पर्श-सग से रहित, ब्रह्मानन्द के ही मूल उत्स से उत्पन्न हुआ मानें तो यह बात आधुनिक मनोविज्ञान-सबधी विश्लेषण की कसौटी से आधार-रहित सिद्ध होगी। कारण यह है कि जिन सूक्ष्म काव्यानुभूतियो को आज तक के अधिकाश कलाकारगण अपनी रचनाओ मे उतारते आये है उनके विस्फुरण के मूल कारण वे ही प्रवृत्तियॉ होती है जो एक साधारण पशु मे वर्तमान रहती हैं, पर जो सुसस्कृत मनुष्य के अवचेतन मन मे अज्ञात रूप से दबी पडी होती हैं। अवचेतन मन से उठ कर और किसी रहस्यमयी रासायनिक क्रिया से छनकर जब वे प्रवृत्तियॉ कलाकार के सचेत मन पर आदोलित होने लगती है, तो उन्हे कविता तथा कहानियो के रूप मे व्यक्त करके उसे वही सुख होता है जो एक पशु को अपनी भूख-प्यास और यौन-मिलन की प्रवृत्तियो के चरितार्थ होने पर—क्योंकि मूल बीज-रूप मे दोनो प्रकार की प्रवृत्तियों के रूप समान हैं। पर चूंकि पिछले युगो के कवियो और कलाकारो को इस रहस्य का पता नही था इसलिये वे कलामात्र की उपज विशुद्ध और अलौकिक आनन्द (या ब्रह्मानद) से बताया करते थे। केवल हमारे ही यहॉ के कलाकार अथवा रस-शास्त्रियो को नहीं, बल्कि उन्नीसवीं शताब्दी तक के अधिकाश यूरोपियन कलाकारो की भी यही धारणा रही है। शोपेने-होअर प्रत्येक पार्थिव वस्तु में अपार्थिवता की खोज और उसकी अभिव्यक्ति

को ही कलाकार का कर्त्तव्य मानता था। शैली का कहना था कि कला अनंत के विशुद्ध प्रकाश के ऊपर छायी हुई रंगिनी है। कीट्स किसी अज्ञात अनुभूति की रहस्याराधना को ही कला मानता था। नीत्शे का कहना था कि कलात्मक सर्जना के लिये आनंद की पुलकानुभूति अनिवार्य रूप से आवश्य है। विख्यात फ्रेञ्च उपन्यासकार फ्लोबेयर ने अपना यह मत प्रकट किया था कि कलाकार को अपनी रचना में वही रूप धारण करना चाहिये जो ईश्वर सृष्टि की रचना मे करता है, उसे कला के साथ अपनी आत्मा को विलीन कर देना चाहिये और जीवन को अपनी कलात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति के एक साधन के अतिरिक्त कुछ भी अधिक नहीं समझना चाहिये। टामसन का विश्वास था कि अनंत के प्रांगण में सब समय आनन्द की तुरही बजती रहती है जिसकी आवाज हमारे कानों तक पहुँचती रहती है, और उस आवाज को गुँजाना ही कला है।

इस प्रकार के असंख्य मत उद्धृत किये जा सकते हैं। इस बात का पता इन सब लेखकों को नहीं था कि हमारे ही अवचेतन मन में युगों से पुंजीभूत पशु-संस्कारों से उस रहस्यमयी तुरही के बजने का शब्द सुनायी देता है। जिस अनुभूति-शक्ति को वे लोग 'अधि-चेतना' (सुपर-कांशस) या 'ईश्वरी-चेतना' ('डिवाइन-कांशस') समझे बैठे थे, वह वास्तव में निम्नतम स्तर की बंधन-ग्रस्त चेतना (अवचेतना या अज्ञात चेतना—'सब-कांशस' या 'अनकांशस') है, इस बात की खबर उन्हें नहीं थी।

हमारा तात्पर्य यह कहने का कदापि नहीं है कि अवचेतन मन से निकले हुए कलात्मक उद्‌गारों में रहस्यमयता नहीं होती। असल में मनुष्य का अवचेतन मन अनंत रहस्यों का भंडार है। सचेत मन की तुलना किसी हद तक दिन के प्रकाश से की जा सकती है और निविड रात्रि को अवचेतन मन का प्रतीक माना जा सकता है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी एक कविता में कहा है—'जिस प्रकार दिन के अंत में, रात्रि के निलय में विश्व अपने अनन्त ग्रह-तारकों के साथ प्रकट होता है, उसी प्रकार मेरे हास-परिहास युक्त हृदय में उसे अनंत जगत् का विस्तार दिखाई देता है।" वास्तव में विश्व-रहस्य का अनंत विस्तार निविड़ रात्रि के रहस्य-लोक में ही दृष्ट हो सकता है। उसी प्रकार

मनुष्य के अवचेतन मन में आदिकाल से विश्वछवियों की जो झलकें सचित होती आयी हैं और असंख्य पशु-प्रवृत्तियों का जो जमाव होता गया है वह निश्चय ही अपार रहस्य से पूर्ण है, और कलाकार को अपनी कला के लिये कभी समाप्त न होनेवाली सामग्री वहाँ से प्राप्त होती है। पर रहस्यमयता अलग चीज है और ईश्वरीय आनंद (अथवा वेदना) की रहस्यात्मक अनुभूति अलग। इस युग का कलाकार—अथवा कला का आलोचक किसी कलामयी कृति को दैवी प्रेरणा अथवा 'अधि-चेतना' द्वारा अनुभूत किसी अलौकिक भाव का प्रतिफल मानने को तैयार नहीं है।

जब यह मान लिया गया कि कुछ समय पहले तक की अधिकाश कलामयी कृतियाँ अवचेतन मन से उद्भूत अज्ञात वासनाओं के सुसस्कृत और कलात्मक उद्गार मात्र हैं, और इस समय की भी बहुत-सी रचनाओं का यही हाल है, तो स्वभावतः प्रश्न यही उठता है कि श्रेष्ठ कलाकार के लिये अवचेतन मन का दास बनकर रह जाने में ही बडप्पन है या उन प्रवृत्तियों से ऊपर उठने की चेष्टा करना श्रेयस्कर है ?

वास्तव में अवचेतन मन से अज्ञात रूप से उत्थित वासनात्मक उद्गारों को (चाहे उन्हें कैसा ही सुसस्कृत रूप क्यो न दिया गया हो) प्रकट करके रह जाना कलाकार की निपट शिशुता का द्योतक है। शिशु की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जो आकाक्षा उसके सचेत मन पर उसे ताडित करती है उसके पूर्णतः वशीभूत होकर उसे तत्काल हँसकर या रोकर व्यक्त कर देना। केवल वही रचना विवेकशील कलाकार की प्रौढ कृति समझी जा सकती है जिसमें अवचेतन मन की कोई भी प्रवृत्ति अविश्लेपित अवस्था में न रहने पायी हो, और अज्ञात रूप से सचेत मन पर आक्रमण करने में समर्थ न हुई हो। इस उपाय से कलाकार अवचेतन मन के सस्कारो से कला की पूरी सामग्री भी जुटाने में समर्थ होगा, और साथ ही पाठको को उन संस्कारो से ऊपर उठने में भी बड़ी भारी सहायता पहुँचा पावेगा। कला की महान् सामाजिक उपयोगिता का एकमात्र वास्तविक मार्ग यही है।
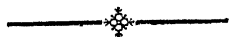
कला में सौंदर्य का आदर्श

सौन्दर्य का कोई निश्चित आदर्श नही। मनुष्य की बुद्धि और वृत्ति के अनुसार उसका स्वरूप बदलता जाता है। हमारे किसान भाइयो को चिल्ला-कर, नगाडे [illegible] नौटकी गाने मे सौन्दर्य का जो आभास प्राप्त होता है, उससे शिक्षित भाइयो का जी मतला उठता है। इसके विपरीत जब कोई कलावत वीणा मे कोई जटिल राग बजाता है, तो उस्ताद लोग वाहवाही देने लगते हैं, पर हमारे किसान भाई उसे सुनकर मन मे यह धारणा बना लेते हैं कि यह बाबू लोगो की खामखयाली के सिवा और कुछ नही। उन्हे उसमे कोई रस नही मिलता। किसानो की बात दूर रही, हमारे शिक्षित भाइयो मे अधिकाश रसज्ञ ऐसे मिलेंगे, जिन्हे गजलो और फिल्मी गानो के आगे राग-रागिणियों की अलौकिक रस-रंगमयी स्वर-लहरियाँ तुच्छ जान पडती हैं। पर राग रागिणियो के स्वरवैचित्र्य और रस-रग से जिनका मन भींग गया है, उन्हे गजलो और फिल्मी गानो से कितनी नफरत हो जाती है, विशेषज्ञों को यह बतलाने की आवश्यकता नही। स्त्री के रूप के सबन्ध मे भी यही बात कही जा सकती है। अशिक्षित लोगो मे से अधिकाश ऐसे मिलेंगे, जो अपेक्षाकृत गोरे रगवाली स्त्री को ही रूपवती समझ बैठते हैं, भले ही वह फूले गालोंवाली अथवा चिपटी नाकवाली हो। शिक्षित सप्रदाय मे भी ऐसे लोगों की सख्या अधिक पायी जायगी, जिन्हें ऐसी स्त्री सौन्दर्य-मयी लगती है जो गोरे रग की हो और जिसकी नाक और गाल बहुत कदा-कार न हों। जिस व्यक्ति की रुचि इससे कुछ बढ जायगी वह स्त्री की आंखो के सौन्दर्य का भी खयाल करेगा—वे बडी हैं या छोटी, गोल हैं या लबी। पर रुचि के विकास का अन्त नहीं। जिसकी रुचि इससे भी बढी-चढ़ी होगी वह स्त्री के सौन्दर्य पर और भी सूक्ष्म रूप से विचार करेगा। वह इस बात पर भी ध्यान देगा कि उसकी आखो से बुद्धिमत्ता टपकती है या फूहडपन। पर कवि की रुचि इस सम्बन्ध मे सबसे अधिक विकसित होती है। वह इन

सब बातों का खयाल करते हुए भी मुख्यतः इस बात पर गौर करेगा कि उसकी आंखों में करुणा तथा स्नेह का भाव झलकता है या नहीं। बुद्धि, करुणा तथा स्नेह से रहित सौन्दर्य को वह अत्यन्त घृणित समझेगा। हृदय-हीन अनुपम शारीरिक सौंदर्य इसलिये उसके हृदय पर असर नहीं कर सकता। प्राकृतिक सौंदर्य का भी यही हाल है। पूर्णिमा की ज्योत्स्ना शिक्षित तथा अशिक्षित सभी व्यक्तियों को प्रिय मालूम देती है, पर अमावस का निविड़ कृष्ण रूप उच्च-श्रेणी के कवि के अतिरिक्त और कौन देख पाता है?

कोयल की कूक सभी को मीठी लगती है, पर सारस के कर्कश कंठ के मदकल कूजन का रस कालिदास की-सी प्रकृतिवाले कवि के अतिरिक्त और कौन ले सकता है? और तो और, विशेष अवसरों पर कौओं के 'कल-कल-कलोल' से भी कालिदास तृप्त होते थे। मेघदूत में इसका उल्लेख है। इसका कारण क्या है? जिस प्रकार किसी स्त्री का 'पूर्णता प्राप्त' शारीरिक सौंदर्य सहृदयताहीन होने से कवि को नहीं भाता उसी प्रकार किन्हीं विशेष अवसरों पर कोयल की कूक की कोरी मिठास से उसका जी नहीं भरता, उसे दुःख तथा अंधकार के निविड सौंदर्य और कडवे रस की चाह होती है।

इसी कारण काक-रव, कपोत-कूजन और सारस की बोली में उसे इतना स्वाद मिलता है। वसंत की बहार का मजा सभी लूटते हैं। उसके सौंदर्य के सम्बन्ध में किसी को द्विधा या संशय नहीं होता। पर आषाढ के प्रथम दिवस में रामगिरि से "वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीय" मेघ का अनुपम सौंदर्य देख कर केवल कालिदास की प्रकृति के कवियों का ही मन उछलता है। रवीन्द्रनाथ भी अनेक समय वसंत की मद विह्वलता से उकता कर घनघटा-च्छन्न मेघ की निविड़ कालिमा के प्रति आकर्षित हुए हैं और कूजन-गुंजन से ऊबकर रुद्र का वज्रमंत्र सुनने के लिए लालायित हुए हैं। 'वर्षशेष' शीर्षक एक कविता में वह लिखते हैं

एबार आसोनि तुमि वसंतेर आवेश हिल्लोले
पुष्पदल चूमि,
एबार आसोनि तुमि मर्मरित कूजने गुंजने,
धन्य धन्य तुमि ।

रथ-चक्र घर्घरिया ऐसोछो विजयी राज सम
गर्वित निर्भय,
बज्रमन्त्रे कि घोषिले बूझिलाम, नाहि बूझिलाम,
जय तव जय !

"इस बार तुम वसंत का आवेश-हिल्लोल साथ में लेकर, पुष्पदलों को चूमते हुए नहीं आये, इस बार तुम मर्मरित कूजन-गुंजन के साथ नहीं आये, हे नववर्ष, तुम धन्य हो ! तुम अपना रथ-चक्र घर्घरित करके विजयी राजा की तरह गर्वित तथा निर्भय होकर आये हो। तुमने अपने वज्र मे क्या मंत्र घोषित किया, यह मै समझ कर भी नहीं समझा। तुम्हारी जय हो !"

रुद्र का यह जो दिल दहलानेवाला, आतक से कपित करनेवाला, प्रलय का तांडव नृत्य मचानेवाला भीषण रूप है, इसका अनिर्वचनीय सौदर्य कितने लोग देख पाते हैं ? हमारे शृंगार रस-रसिक कवि वसत का अपमान करनेवाले इस कवि को अवश्य ही पागल समझेंगे। पर कालिदास, ग्येटे और रवीन्द्रनाथ की तरह जिन महाकवियों की आत्माएं मानव-जीवन के दुःखमय रस मे पूर्ण से डूब कर उतरा भी गयी हैं, वे अन्य रसों का स्वाद लेते हुए भी निविड़ जीवन-रस से ही तृप्त होते हैं। इसी रस मे उन्हे सौदर्य का परिपक्व आदर्श दिखलाई देता है। कुछ भी हो, हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि सौदर्य का कोई निश्चित आदर्श नहीं। मनुष्य की रुचि का विकास पूर्णता की ओर जितना बढ़ता जाता है, सौदर्य के सम्बन्ध मे भी उसकी धारणा उसी रूप में जटिल होती और बदलती जाती है। यह धारणा कभी-कभी इतनी उद्भट हो जाती है कि साधारण मनुष्य भ्राति से विमूढ होकर चकित रह जाता है। टालस्टाय और रवीन्द्रनाथ का कहना है कि किसानों के छलरहित, सभ्यता के ढकोसले से हीन, प्राकृतिक रस से स्निग्ध हृदय की जो आभा उनके चेहरों पर झलकती है, उसका सौंदर्य अनुपम है।

कालिदास की भी यही धारणा है। उन्हें हमने अश्लीलता का पुजारी और बाजारू कवि ही समझ लिया है। पर वह सौदर्य के समस्त रूपों मे

उसका रस लेना जानते थे। मै तो उन्हें एक श्रेष्ठ योगी मानकर नित्य मन ही मन प्रणाम करता हूँ! इसमें सन्देह नहीं कि वह यौवन-मद-मत्ता, विलासिनी ललित वनिताओं के रूप पर मुग्ध हुए हैं, पर 'भ्रू-विलासानभिज्ञ' कृषक रमणी का सरल सौंदर्य भी तो वह देख पाये हैं :

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।

"कृषि का फल तुम्हारे ही अधीन होने से तुम्हें भृकुटि-रचना का कौशल न जाननेवाली, सरल स्वभाववाली ग्रामीण वधू प्रीति-स्निग्ध दृष्टि से देखेगी।" कैसा सरल, स्निग्ध, आडम्बरहीन, स्वाभाविक, मधुर भाव इन दो पंक्तियों में भरा है! ऐसे ही कवि अनेक रूपों की सौंदर्य-छटा से आखों को तृप्त करके अंत को एक रूप में मिलित सौंदर्य के लिये लालायित होते हैं, ऐसे कवि धन्य हैं। ऐसे कवि योगी हैं। अलकापुरी का आनदमय राज्य ऐसे ही सर्वदर्शी, सर्वप्रेमी कवियों के लिये है।

मेघदूत काव्य को यदि हम सौंदर्य-कला की प्रदर्शिनी कहें तो अनुचित न होगा। इस काव्य के श्लोकों में सौदर्य के अनेकानेक भिन्न-भिन्न रूप प्रस्फुटित हुए हैं। इसका प्रत्येक श्लोक विशेष-विशेष रूप के सौदर्य को व्यजित करता है। सौदर्य किन-किन स्वरूपों मे अपने को व्यक्त कर सकता है, इस काव्य मे यही दिखलाया गया है। जिस प्रकार अव्यक्त के 'एकमेवाद्वितीयम्' रूप से अनेकानेक रूप फूट निकले हैं, उसी प्रकार निविड़ कालिमा-लिप्त वर्षा ऋतु के एक रूप से कितने ही भिन्न-भिन्न रूपों की अभिव्यक्ति होती है। पूर्व-मेघ में यही दिखाया गया है, आरंभ मे ही :

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चाय नदति मधुरं चातकस्ते सगर्वः।

तथा :

आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्त.
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसा. सहायाः।

इस ढंग से सौंदर्य-लोकगामी मेघ की यात्रा प्रीतिपूर्ण विदाई के साथ मंगलमय कल्याण से अभिषिक्त होती है। इसके बाद सौंदर्य की लहरी पर लहरी इठलाती, बल खाती हुई नाचती चली जाती है। सबसे पहले यक्ष के प्रवास स्थान चित्रकूट मे ही सौंदर्य की यह विचित्र प्रदर्शिनी आरभ होती है। चित्रकूट के सम्बन्ध मे यक्ष मेघ से कहता है

काले काले भवति भवतो यस्य सयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो वाष्पमुष्णम्।

"अर्थात् समय-समय पर प्रतिवर्ष तुम्हारा सयोग प्राप्त होने से सुदीर्घ विरह के कारण उष्ण भाप छोड कर यह पर्वत अपना स्नेह व्यक्त करता है।" इस भाव मे कैसा अनुपम सौदर्य है। जब पदार्थ के वर्णन मे ही कवि ने मनुष्य के हृदय से भी अधिक करुणापूरित स्नेह प्रस्फुटित किया है तब जीवित प्राणियों के सबन्ध मे कहना ही क्या है। इसके बाद 'रत्नच्छायाव्यतिकर' (रत्नों की रग-बिरगी काति) के समान इन्द्रधनुष की छटा का सौदर्य दिखलाया गया है। यक्ष कहता है कि "इन्द्रधनुष की आभा से तेरा श्याम शरीर गोप वेषधारी कृष्ण के मोर के रग बिरंगे पंखों के समान शोभित होगा।"

फिर आगे चलकर पृथ्वी माता के स्तन के समान स्थित आम्रकूट पर्वत के वनचर-वधू द्वारा सेवित कुंज का वर्णन करके यक्ष कहता है:

रेवा द्रक्ष्यस्युपलविषमे विंध्यपादे विशीर्णाम्।

"विन्ध्य पर्वत के उपल-विषम पादमूल पर विशीर्ण (थकित हुई) रेवा नदी को तू देखेगा।" सौंदर्य की अनिर्वचनीयता की हद हो गई। पर्वत के तट-प्रांत मे बड़े-बड़े भारी पत्थरों के आघात से थकित हुई नदी को व्रजवनिता की तरह खिन्न बतला कर कवि ने प्राकृतिक शृ गार-रस की मोहिनी बरसा दी है। इस प्राकृतिक लीला में जो रस है वह किसी कामिनी की कमनीयता में नहीं पाया जा सकता। वही सौंदर्य एक और दूसरी जगह प्रस्फुटित हुआ है:

तीरोपान्तस्तनित सुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्।
सभ्रूभंगं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मिः।

"तटप्रांत मे शिलाभिघात के कारण मधुर गर्जन करनेवाली, चंचल ऊर्मि के कारण भ्रू-विलास प्रदर्शित करनेवाली वेत्रवती नदी का तू सलिलरूपी अधर-सुधा पान करेगा।"

वन-गज के मदगंध से वासित, जबू कुंज के तीर में बहनेवाले जल को ग्रहण करता हुआ, सारंगों के मार्ग से होकर चलता हुआ, सजल नयन मोरों द्वारा अभिनदित होकर विश्राम करता हुआ, बन-नदियो मे पानी बरसाता हुआ, उद्यानो मे अपने नव-जलकणो से यूथिका-जालको को सिचन करता हुआ, गालो मे उत्पन्न हुए स्वेदकणो को बार-बार पोछने मे क्लांत कर्णोत्पलवाली मालिनी को शीतल छाया प्रदान करके उनसे क्षण-काल के लिए परिचित होकर जब मेघ मन्द-मन्द गति से चला जाता है, तब उस दृश्य मे कितना अनुपम सौंदर्य भरा रहता है! अभिराम सौंदर्य की कैसी अविराम धारा बही चली जाती है इन श्लोकों मे! प्यासों को पानी पिलाने मे, उत्कठितो को दिलासा देने मे, तप्तों को छाया प्रदान करने मे जो माधुर्य है, उसके आगे कोई सौंदर्य नहीं ठहर सकता।

स्वार्थ से अधिक सौंदर्य परमार्थ मे है, और परमार्थ से अधिक मनोहरता अनन्त के प्रति उद्देश्यहीन श्रद्धांजलि प्रदान करने मे है। इसी कारण जब यक्ष मेघ को संध्या के समय उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में पूजा के अवसर पर अपने मधुर गर्जन से नगाडा बजाने का उपदेश देता है, तो इस भाव मे भी अपूर्व सौंदर्य खिल उठता है।

केवल यही नहीं, उत्सव के भाव मे रमणीयता अवश्य है, पर युद्ध में लड़नेवाले वीरो के सिरों के सरासर धड़ अलग होने मे भी सौंदर्य है। सामान्य कवि इस दृश्य मे वीभत्सता देखेंगे, पर श्रेष्ठ कवि को यह दृश्य भी सौंदर्य-मंडित प्रतीत होता है। इसलिये कवि लिखता है:

राजन्याना सितशरशतैर्यत्र गाडीव धन्वा,
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि।

"(ब्रह्मावर्त प्रदेश मे) गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन ने शत-शत तीक्ष्ण बाणों की वर्षा से राजाओं के सिर उसी तरह पृथ्वी मे गिराये, जिस प्रकार तुम

अविरल धारापात से कमलों को बरसा कर नीचे गिराते जाते हो।" इस सौंदर्य-पिपासु कवि की रुचि कितनी विकसित है! वह सर्वत्र सौंदर्य ही सौंदर्य देखता है। कोमलता मे, और काठिन्य मे, विलासिता मे और वीरत्व में, पाप और पुण्य में वह सौंदर्य के प्रति ही दृष्टि रखता है।

ऊपर जिस सौंदर्य का वर्णन किया गया है, वह सुख-दुःख, आशा-नैराश्य, हास्य-क्रन्दन इन द्वन्द्वों से जर्जरित पृथ्वी माता का सौदर्य है। पूर्वमेघ का सपर्क पृथ्वी तल से है। पर उत्तरमेघ का सौदर्य इन सब द्वन्द्वों से परे है। उसमे सौदर्य के नाना रूप एक आनन्दमय रूप से मिलित हो गये हैं। वह स्वर्ग का सौदर्य है। उस सौदर्य-लोक मे क्षुधा-तृष्णा, पाप-ताप, जरा-मृत्यु की हाय-हत्या सुनने में नहीं आती। वहा के सम्बन्ध मे कहा गया है:

आनन्दोत्थं नयनसलिल यत्र नान्यैर्निमित्तैः।

वहा आनन्द के कारण ही आसू उमडते हैं, अन्य कारणो से नहीं। पर पृथ्वी के सौदर्य मे "पुष्प कीटसम हेथा तृष्णा जेसेरय।" फूल मे कीड़े की तरह तृष्णा यहॉ जगी रहती है।

हर्ष की बात है कि हिन्दी के कवि भी सौदर्य के इस उच्च आदर्श का अनुभव करने लगे हैं। 'विशाल भारत' की किसी एक सख्या मे किसी एक कवि की 'सौदर्य' शीर्षक कविता छपी थी, जिसकी कुछ पक्तिया मुझे अभी तक याद हैं:

बहती है सौदर्य सुधा उस राजमार्ग के तटपर
जहॉ खडी भिक्षा को दुखिया, अंचल मलिन बढाकर।

कैसा सुन्दर भाव है! यह भाव चाहे पहले कितने ही कवि व्यक्त कर चुके हों, पर इसका सौदर्य कभी पुराना नहीं हो सकता। राजमार्ग में कितने बड़े-बड़े धनी और मानी व्यक्ति चलते हैं, कितने ही धनी परिवार की सुन्दरी स्त्रियां आती-जाती हैं, पर निष्कपट हृदय की सरल आंखों मे उसकी शोभा केवल एक उपेक्षिता, दीना, मलिना भिखारिणी को लेकर है।

रूप कुरूप हुआ जाता है उस शोभा के आगे
जहाँ निर्धन के धन दो बालक सोते लोते जागे।

इसमें अत्यन्त सरलता के साथ अन्तर्निहित सौंदर्य का स्वच्छ स्रोत बहाया गया है। निर्धन के धन, भगवान के पोष्य दो पुत्र—दो बालक—दो भाई ऊषा का निर्मल हास्य व्यंजित करते हुए अरुणोदय की तरह जाग रहे हैं। राफेल के 'मेडोना' के चित्रो की अपूर्व छाया इस भाव में छलकती है। इस भाव मे मौलिकता भी यथेष्ट है :

सुन्दरता की सीमा देखो, उल्लघित उस थल है,
श्रमित कृषक के कृश शरीर से जहाँ बरसता जल है।

यह भाव मौलिक न होने पर भी सुन्दर है।

बरस रही अविराम मोहिनी उस छाया के नीचे,
पतिता के अनुताप कणो ने जहा कमलदल सींचे।

हृदय की कोमल करुणा और आत्मा की अनुपम उदारता का जो अभिनव सौदर्य यहा व्यक्त हुआ है, वह अनन्य है। रवीन्द्रनाथ की 'पतिता' कविता का भाव इसमे पाया जाता है। अनुताप-कणो की उपयोगिता तभी है जब वह जीवन के कीचड मे खिले हुए कमलो को अधिकाधिक विकसित करने मे सहायक सिद्ध हो।

अन्त मे हम फिर यह कहना चाहते ह कि सौदर्य का कोई निश्चित मापदड न होने पर भी उसका झुकाव और विकास एक विशेष आदर्श की ओर होना है। वह आदर्श है आत्मा, हृदय और मस्तिष्क का संयोग, सुन्दर, मगल और सत्य का सामन्जस्य।
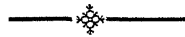
साहित्य में प्रेमतत्त्व

प्रेम एक ऐसी मनोवृत्ति है जो साहित्यिक विकास के आदिकाल से लेकर आज तक विश्व-साहित्य-क्षेत्र मे अपना अटूट आधिपत्य जमाती चली आयी है। हमारे यहाँ यह किंवदन्ती चली आयी है कि आदि-कवि के अन्तर से कविता का जो उत्स फूट पडा उसके मूल मे वह करुणा थी जो प्रेम-रत चक्रवाक-मिथुन मे से एक की व्याध द्वारा हत्या हो जाने के कारण उमड उठी थी। अर्थात् मूल मे जो प्रेरक-बीज था वह प्रेम ही था। प्राचीनतम महाकाव्यों से लेकर छायावादी युग तक जितने भी रसात्मक साहित्य का सृजन हुआ है वह सब मूलतः प्रेम से सबधित है। रामायण की मूल कथा सीता-हरण पर आधारित है, महाभारत के युद्ध के कई राजनीतिक तथा सामाजिक कारण होने पर भी कवि ने द्रौपदी के चीर-हरण को ही पाडवों की प्रतिहिंसा का केंद्रगत कारण दिखाया है। ग्रीक-साहित्य मे होमर के 'ईलियड' की कथा मे हेलेन के अपहरण से सम्बन्धित घटना अतःसलिला की तरह बहती रहती है।

आदि महाकाव्य-युग के बाद भी क्या ग्रीक, क्या लैटिन और क्या संस्कृत-साहित्य मे सभी साहित्य-स्रष्टाओं ने प्रेम-रस को ही मूलतः अपनाया है। देश और काल के अनुसार उस प्रेम-रस के प्रस्फुटन और प्रतिक्रियात्मक परिस्फुरण के रूपों मे अनर पाया जाना स्वाभाविक है, पर बीज-रूप मे वह सभी मे समानरूप से वर्तमान पाया जाता है। उदाहरण के लिये कालिदास का 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' और ईस्काइलस का 'एगेमेमनन' को लीजिये। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' मे एक 'अनाघ्रात पुष्पम्' की तरह कोमल-स्वभाव तरुणी के हृदय मे प्रस्फुटित सुकुमार प्रेम-भावना का जो विकास दिखाया गया है वह ऐसा मधुर और मोहक है कि उसकी अनुभूति प्राणों मे एक सकरुण विह्वलता-भरी सरस वेदना छलका देती है। और इस सरल तरल प्रेम का सहज प्रवाह जब कपट और दुराचारपूर्ण सासारिक यथार्थता के

माध्यम से होकर गुजरता है तब उस कठिन अवरोध और संघर्ष के फलस्वरूप उसकी परिणति भी एक विशेष ही रूप से होती है। शकुन्तला तापसी-जीवन की अपूर्व मधुरिमा द्वारा जिस मगलमय रस का अभिसिंचन करने लगती है उसकी स्वर्गिक धाराएँ प्रेम को अमृतमय रूप प्रदान कर देती हैं, पर 'एगेमेमनन' मे हम यह जान नहीं पाते। उसमे प्रेम की प्रतिक्रिया घोर बर्बर [illegible] रूप धारण कर लेती है। ग्रीक सेनानी एगेमेमनन जब ट्राय के युद्ध मे विजयी होकर, लौटकर घर आता है, तब वह सब से पहले अपनी प्रियतमा पत्नी क्लाइटेमनेस्ट्रा से मिलने के लिये उत्सुक होता है। क्लाइटेमनेस्ट्रा इस बीच एक दूसरे आदमी के प्रेम-पाश मे बँध चुकी होती है। पर वह केवल हृदय की विवशता के कारण ही पति को धोखा नहीं देती है बल्कि काफी हद तक जानबूझ कर भी ऐसा करती है। उसके पति की सहमति मे उसकी प्यारी लड़की को जब देवता की बलिवेदी पर चढाया गया था तभी से वह अपने भीतर अपने पति के विरुद्ध उत्कट प्रतिहिंसा पाले रहती है। इसी प्रतिहिंसात्मक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर वह एक दूसरे व्यक्ति से प्रेम करने लगती है, और उसी प्रवृत्ति के प्रवेगवश वह अपने पति—एगेमेमनन—की हत्या कर डालती है। इस दुःखान्त नाटक के भीतर ईस्काइलस ने मानवीय अन्तश्चेतना के भीतर बद्धमूल उन अगम रहस्यमयी प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन बडे ही गहरे और मार्मिक रगों से किया है जो प्रेम तथा तज्जनित प्रतिक्रिया—घृणा और प्रतिहिंसा—के रूपों मे बाहर व्यक्त होती रहती है साथ ही उन जटिल मनोभावनाओं का विश्लेषण भी बडी ही बारीकी से किया है।

प्रेम दोनो रचनाओं का केन्द्रीय विषय है। पर दोनो के स्वरूपों में किस कदर—मूलगत वैषम्य है! 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' मे प्रेम का विकास सहज, सुन्दर, जटिल मनोग्रन्थियों से रहित रूप मे दिखाया गया है। शकुन्तला अपने प्रेमी के द्वारा धोखा खाने और ठुकराये जाने पर आक्रोशवश क्षणिक उत्तेजित अवश्य हो उठती है। पर अपने अभिमान का बदला चुकाने के उद्देश्य से कोई कुटिल भावना उसके मन मे नहीं जगती। बदला वह अवश्य चुकाती है, पर अत्यत उन्नत, स्वस्थ और शालीन रूप से—सच्चे प्रेम से तपे हुए हृदय की ऐकातिक साधना द्वारा। उस साधना की चरम परिणति

के बाद जब स्वर्गीय आश्रम मे दुष्यन्त से उसका पुनर्मिलन होता है, और उसका दुलारा बेटा उससे पूछता है—"माँ, यह कौन है ?" तब वह सांकेतिक उत्तर देती है—"बेटा अपने भाग्य से पूछो !" इस एक सूत्र से शकुतला के समान मुग्धा नारी के आत्मसमर्पणोन्मुख मान का अतरीण रूप स्पष्ट प्रतिभान हो उठता है और साथ ही उसके जीवन की मूल केन्द्रीय धारा भी।

पर क्लाइटेमनेस्ट्रा की प्रतिहिसा—जो प्रेम का ही विकृत रूप है—ज्वालमुखी की तरह कैसी भयकर आग उगलती है ! आहत आत्मा कैसे प्रचड विस्फोट का परिचय देती है ! शकुन्तला और क्लाइटेमनेस्ट्रा, ये दोनों विश्व-साहित्य-विकास की दो समानान्तर धाराओं के प्रतीक हैं। इन दोनों धाराओ का मूल उत्स एक ही है—युग-युग मे विकसित और विघटित होती रहनेवाली मानवीय मनोभावनाओं का अपरिचित 'रिजर्वायर' रहस्यमयी मानवीय अन्तश्चेतना।

प्रेम से सम्बन्धित जितनी भी स्वरोधी, विरोधी अथवा अवरोधी भावनाएं हैं उन सब की मथन-क्रिया युग युग से इसी अतश्चेतना मे चला करती है, और फलस्वरूप प्रति युग मे साहित्यिक स्वरूपों, शैलियों, विचारों और आदर्शों के नये-नये, परिवर्तित रूप देखने मे आते रहते है। किसी भी युग मे जो कोई भी साहित्यिक कृति अपनी गहरी छाप जमाने मे समर्थ होती है उसके सम्बन्ध मे इतना निश्चित रूप से जान लेना चाहिये कि उस की उत्पत्ति मूलतः प्रेम अथवा तज्जनित प्रतिक्रिया से हुई है। यह आवश्यक नही है कि उस रचना में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम, घृणा अथवा प्रतिहिंसा का प्रस्फुटन किसी न किसी रूप मे होना ही चाहिये। प्रेम अथवा उसकी प्रतिक्रिया के प्रत्यक्ष वर्णन के बिना भी कई साहित्यिक कृतियाँ कलात्मक स्थायित्व प्राप्त कर चुकी हैं। उदाहरण के लिये शेक्सपीयर के सुप्रसिद्ध नाटक 'जूलियस सीजर' मे प्रेम की कोई चर्चा ही कहीं पर नहीं आती। यह एक राजनीतिक नाटक है। पर सारे राजनीतिक चक्रजालों के अन्तराल मे स्नेह-प्रेम, घृणा-विद्वेष, हिंसा-प्रतिहिंसा का चक्र अटूट क्रम से चलता रहता है। सीजर के सच्चे प्रशंसक ब्रूटुस की कर्तव्य-भावना विद्रोही होकर हिसा का रूप धारण कर लेती है, सीजर की हत्या का कारण बनती है, और एन्टोनी का सीजर के

प्रति भाव—प्रवण प्रेम जनता को ब्रुटुस के विरुद्ध भड़काने में सफलता प्राप्त करते हैं। इन्हीं दो मूल प्रवृत्तियों के धुरे पर नाटक का सारा चक्र घूमता रहता है। उसी प्रकार सुप्रसिद्ध भारतीय नाटक 'मुद्राराक्षस' में स्त्री-पुरुष सम्बन्धी प्रेम की चर्चा तो क्या कहीं एक भी स्त्री-पात्र की अवतारणा तक नहीं की गयी है। वह कोरमकोर राजनीति से भरा है। 'जूलियस सीजर' का राजनीतिक तत्त्व इसके आगे फीका पड़ जाता है पर इसकी भी मूल परिचालिका शक्ति प्रेम ही है। राक्षस का अपनी मान-मर्यादा के प्रति प्रेम, चाणक्य का अपने अपने प्रतापी किंतु पराजित प्रतिद्वन्द्वी के प्रति आकर्षण और सम्मानपूर्ण सहृदयता, दोनों की उन्नत अहवादिता, पारस्परिक प्रेम और घृणाजनित संघर्ष-विघर्ष और उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया—ये सब मूल में उसी आदिम प्रेमतत्त्व से ही सम्बन्धित हैं।

भक्त कवियों के काव्य का भी मूल आधार प्रेम ही है—उन्नत, परिष्कृत, उदात्तीकृत स्वर्गीय प्रेम। मीरा की पदावलिया भी उसी महान् प्रेम से ओत-प्रोत हैं। भूषण की वीररसात्मक रचनाएं भी मूलतः प्रेम ही से सम्बन्धित हैं—जाति-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम।

प्रत्यक्ष में प्रेमतत्त्व के प्रति विमुख विशुद्ध मार्क्सवादी साहित्यिकों की रचनाए भी उससे अछूती नहीं हैं। मार्क्सवादी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कृति गोर्की का 'मा' नामक उपन्यास प्रेमरूप से लबालब भरा है। इस उपन्यास में मा का पुत्र के प्रति प्रेम विकास पाकर सारी नयी पीढी को संतान मानकर उसके प्रति अपनी संपूर्ण आत्मा का वात्सल्य रस निचोड़ने को तत्पर हो उठता है। वह उन सब तरुणों की मंगलमयी, स्नेहमयी मा बन जाती है जो बन्धनग्रस्त राष्ट्र के पीडितों और दलितों के अन्तर—राष्ट्रीय स्वर्ग में परिणत करने पर तुले होते हैं।

चाहे सामंतयुगी साहित्य को लीजिये, चाहे पूंजीवादी साहित्य को और चाहे उच्चकोटि के विशुद्ध मार्क्सवादी साहित्य को, सब के मूल में प्रेम का प्रेरक बीज वर्तमान पाया जायगा।

वर्तमान हिन्द साहित्य की प्रवृत्तियां

आज जिस प्रकार बाहर का जीवन अस्त-व्यस्त और अव्यवस्थित हो उठा है, उसी प्रकार भीतर का जीवन भी डावाडोल है और अनिश्चित दिशाओं मे भटक रहा है। द्वितीय महायुद्ध ने जो समस्याए खडी की थी वे युद्ध की समाप्ति के बाद—तथाकथित शाति-काल मे—और अधिक उलझे हुए रूपो मे सभी चितको के सामने आ रही है। उस उलझन का प्रभाव स्वभावत: साहित्य पर भी पडा है। सारे विश्व-साहित्य के आगे आज की व्यापक आर्थिक और राजनीतिक समस्याए विकट चट्टानो की तरह अवरोध खडा करके उसकी मुक्त और बहुमुखी गति को रोक रही है। आज का साहित्यकार जब बाहर की समस्याओ के समाधान की ओर प्रवृत्त होता है तब भीतर की समस्याएं उभरने लगती है और जब वह भीतर की समस्याओ को सुलझाने का प्रयास करने लगता है तब बाहर की समस्याए उसका गला पकडने लगती है। दोनो मे कही कोई सामजस्य उसे नही दिखाई देता और फलस्वरूप उसके आगे गत्यवरोध खड़ा हो जाता है।

हिन्दी साहित्य भी इस गत्यवरोध से बच नही पाया है। कविता के क्षेत्र मे तो इसका ऐसा सुस्पष्ट प्रभाव पडा है कि महादेवी जी ने एक प्रकार से कविताए लिखना बन्द ही कर दिया है। पंत जी 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' के बाद अब जो कुछ भी लिख रहे हैं वह बहुत सुन्दर होते हुए भी एक प्रकार का पिष्टपेषण ही है। निराला जी के जो नये गीत 'अर्चना' के नाम से प्रकाशित हुए है वे अत्यन्त भावपूर्ण होने पर भी कवि की प्रतिभा की किसी नयी दिशा को नही बताते। छायावादी युग के दूसरे कवियो का भी यही हाल है। रामकुमार वर्मा यदाकदा एक आध-कविता लिख लेते हैं। उन्होने नाटक-रचना पर ही अपनी सर्जनात्मक शक्ति को केन्द्रित-सा कर लिया है।' भगवतीचरण वर्मा ने भी काव्य-रचना से हाथ खीच

लिया है और वे उपन्यासों की ओर अधिक झुके हैं। वैसे इधर उन्होंने एक राजनीतिक काव्य आरम्भ किया है, पर कविता की दृष्टि से उसकी सफलता का प्रश्न विवादास्पद है। केवल बच्चन जी एक ऐसे कवि रह गए हैं जिनकी काव्य-प्रतिभा अभी तक कुंठित नहीं हुई है। वह अभी तक उसी धड़ल्ले से लिखे चले जाते हैं जिस तरह महायुद्ध के पूर्व लिखते थे। यह आश्चर्य ही है कि उनके भीतर किसी तरह की कोई उलझन आज के विश्वव्यापी उलझनों के युग मे भी नहीं पायी जाती। आज का सामूहिक जीवन जिन उलटे-सीधे आर्थिक और राजनीतिक चक्रो के बीच मे अत्यन्त निर्मम भाव से पिसता चला जा रहा है और उस सामूहिक पीडन के फलस्वरूप जो एक नयी चेतना धीरे-धीरे जागती हुई साहित्य के विस्तृत प्रागण मे ऊपर उठने का प्रयास कर रही है उसका कोई आभास बच्चन जी की नयी कविताओं मे नहीं पाया जाता। बाहरी और भीतरी दुनिया की जो जटिल समस्याए एक दूसरे से टकरा कर दूसरे कवियो को डावाडोल कर रही है, उनके प्रभाव मे बच्चन जी मुक्त है। उनके आगे सभी प्रश्न—चाहे वे परस्पर-विरोधी ही क्यो न हों—बडे सीधे रूप मे आते हैं और अपने कुछ बँधे हुए, निश्चित विश्वासो के अनुसार वे उनका समाधान भी अपनी कविताओं मे सुस्पष्ट ढग से करते चले जाते है। हाला-वादी युग मे बच्चन जी के विश्वासो का जो ढाचा बन चुका था उसके मूल रूप मे अभी तक कोई अन्तर नहीं आया है, केवल उसके बाहरी रगो मे परि-वर्तन हुआ है। आज भी वह एक ओर कृष्ण और राधा की प्रेम-लीला के शृंगारी कवि जयदेव की प्रशसा मे सुन्दर भावुकतापूर्ण कविता बिना मन की किसी सिकुडन के लिख लेते हैं और दूसरी ओर विकल विश्व की समस्याओं का समाधान भी बडी आसानी से कर लेते है।

पर जिन कवियो की अन्तरानुभूति अधिक तीव्र और बाह्य दृष्टि अधिक व्यापक होती है उनकी उलझने भी उतनी ही जटिल होती हैं। विकल विश्व की समस्याओं का समाधान उन्हे उतना आसान नजर नहीं आता, और आकुल अन्तर की समस्याओं को ऐसे अवसर पर आगे रखने मे उनका विवेक हिचकिचाता है जब कि सामूहिक जीवन बाहरी शक्तियो के यान्त्रिक पेषण से कुचला जा रहा हो।

फिर भी कवि पत ने अन्तर और वाह्य जीवन की गहन समस्याओ के सम्मिलित समाधान का प्रयास अपनी 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में किया है। आज के सभी महान चितको के मन मे मनुष्य-जाति के भविष्य के संबध मे जो प्रश्न उठ रहे हैं वे पत जी के शब्दो मे इस प्रकार हैं :

मानव-सस्कृति का क्या स्वर्ग बसायेगा वह भूपर,
भीषण अणु का भूप्रकम्प या छोडेगा प्रलयंकर ?
नव-मनुष्यता होगी भू-सगठित कि राष्ट्र विभाजित ?
अन्तर्देवो से प्रेरित या भूत-दैत्य से शासित ?
धरा बनेगी शाति–धाम या रक्त-क्षेत्र रण–जर्जर
अमृत व्योम से बरसेगा ? या विष–वह्नि विनाश भयकर ?

मानव-जीवन और मानव-मन की इन समस्याओ के समाधान के रूप मे जो सुझाव पंत जी ने उपस्थित किये हैं उनका सार इस सूत्र में निहित है :

बहिरंतर के सत्यों का जग-जीवन मे कर परिणय,
ऐहिक-आत्मिक वैभव से जन-मगल हो निःसशय।

उनके मत से जब बाहरी जीवन के सत्या का सामजस्य अतर्जीवन के सत्यों से किया जाने लगेगा, भौतिक जीवन से आत्मिक जीवन के समन्वय की ओर मानवता सचेष्ट होगी तभी मानव-जाति सामूहिक और स्थायी कल्याण के पथ पर अग्रसर हो सकेगी। इसमें सदेह नही कि यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सुझाव है। पर फिर यह प्रश्न रह जाता है कि जिन भौतिक स्वार्थों के पारस्परिक सघर्ष के कारण आज वाह्य जीवन मे व्यापक विषमताए वर्तमान हैं उनमें अतर्जीवन के सत्यो की स्थापना कैसे की जाय ? जब तक उन भौतिक विषमताओ का निराकरण भौतिक ही उपचारो से नही होता तब तक आज के युग की दानवीय शक्तिया अतर्जीवन के सत्यो को भू-जीवन पर पनपने के लिये, अवकाश ही कहा देती हैं ? अतएव कवि फिर उलझन मे पड़ कर रह जाता है।

अंतर्जीवन के सत्यों के विकास में आज के युग की भौतिक और यात्रिक शक्तियां कैसी विकट बाधाएं उपस्थित कर रही हैं इसकी अभिव्यक्ति नये कवियों की प्रयोगवादी कविताओं मे बहुत तीखे रूप मे हो रही है। प्रयोगवादी

कविताए अभी तक प्रयोग की ही स्थिति मे हैं, और अभी से इस सम्बन्ध में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती कि हिंदी साहित्य के भावी इतिहास मे वे अपना चिह्न किस हद तक छोड जायेगी। प्रयोगवादी शैली को अपनाने वाले अधिकतर वे युवक कवि हैं जो भाव-प्रवण होने के कारण एक ओर अपने अतर से उद्भूत होने वाले भावों और रसों के उद्वेलन से संक्षुब्ध हैं और दूसरी ओर आज के विषम जीवन की कठोर और निर्मम यथार्थता मे आतकित। इन दोनो के सघर्ष से एक विचित्र--सी प्रतिक्रिया उनके भीतर हुई है जिसने उन्हे अतर और बाहर के सभी नियमों के विरुद्ध विद्रोह की भावना उनके मन मे भर दी है। फलस्वरूप जीवन के प्रति एक 'सिनिक' का सा व्यगात्मक भाव उनकी कविताओं मेदृष्ट होता है। इसी कारण- उन्होने अनियम को ही नियम, रीतिहीनता को ही रीति मान कर, जानबूझ कर—सप्रयास—आज के जीवन की ही तरह अस्तव्यस्त, अनियमित और विशृखल शैली, भाव और भाषा को अपनाया है। उनके इस अनियम मे भी एक नियम ठीक उसी प्रकार निहित है जिस प्रकार हैमलेट के पागलपन के पीछे भी एक निश्चित योजना थी। पर इतना निश्चित है कि आज के जीवन की जटिल समस्याओ की चुनौती को साहस के साथ स्वीकार करने के बजाय हमारे प्रयोगवादी कवियो ने उनसे भागने और कतराने का ही रुख अख्तियार किया है। जीवन के प्रति व्यंगात्मक दृष्टिकोण को अपनाने से भी उनकी उस भगोडी मनोवृत्ति और भीतर की भय-भावना छिप नही पायी है। इस सम्बन्ध मे हम उदाहरण के लिए श्री धर्मवीर भारती की 'ठंडा लोहा' शीर्षक कविता को ले सकते हैं।

कवि ने इस कविता मे अपने तथा अपने इच्छित जन के मिलन के पथ मे पडे हुए ठडे लोहे को एक विराट अवरोध के रूप मे पाया है—वह ठंडा लोहा जो आज के युग की विश्वव्यापी यान्त्रिकता का प्रतीक है। कवि अतर की तीव्र वेदना के साथ यह अनुभव करता है कि जब तक यह ठंडा लोहा जीवन के बीच में वर्तमान है तब तक अंतर्जीवन की भावनाओ के द्वार रुद्ध पड़े रहेंगे, उसके स्वाभाविक विकास के लिये मुक्त वातावरण प्राप्त नहीं हो सकेगा। पर इस ठंडे लोहे को गरम करके उसे किस प्रकार जीवन के उप-

योग मे लाया जा सकता है और भौतिक साधनो के सद्प्रयोग द्वारा किसी प्रकार भौतिक और यथार्थवादी आधार पर ही समुन्नत सास्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन के विकास की नीव खडी की जा सकती है, इस समाधान और अपनी अतर्भाव-शक्तियो को प्रेरित करने का कोई प्रयत्न हम इस प्रकार की कविताओ मे नही पाते। फिर भी कवि की ईमानदारी पर हमे कोई सदेह नही है।

कथा-साहित्य के क्षेत्र मे भी इधर नयी प्रवृत्तिया नजर आ रही है। वर्तमान युग के सभी कथाकारो ने जीवन की एक ही ढंग की पृष्ठभूमि को नही अपनाया है, एक ही ढग के पहलुओ पर प्रकाश नही डाला है। उनमे से किसी ने वैयक्तिक जीवन के सामाजिक जीवन के साथ सघर्ष पर प्रकाश डाला है, किसी ने आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द्व को दिखाने का प्रयास करते हुए यह चित्रित किया है कि उस बाहरी द्वन्द्व का सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तर्जगत के द्वन्द्व से किस हद तक है, और किसी ने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि व्यक्तियो के अपने ही भीतर के द्वन्द्वो और सघर्षों के फलस्वरूप किस प्रकार सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सघर्षो की पृष्ठभूमि तैयार होती है और किस प्रकार उन असामाजिक तथा उच्छृङ्खल प्राणियो की उत्पत्ति होती है जो अपने अत्यन्त अनुन्नतिशील अहम् की विकृत प्रतिक्रिया द्वारा सामूहिक जीवन-विघातक, विषैले मनोवैज्ञानिक वातावरण के धुँध से सारे समाज को छा देते है।

ये नयी प्रवृत्तिया केवल पहले से जमे हुए उपन्यासकारो मे ही नही, नये उपन्यासकारो मे भी पायी जाती हैं, यद्यपि अधिकाश नये उपन्यासकार अपने विचारो मे उलझे हुए पाये जाते हैं।

नाटक के क्षेत्र मे भी नये प्रयोग हो रहे है। यद्यपि रामकुमार वर्मा, अश्क, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि नाटककार अभी तक पुराने ढग के रोमाटिक और रहस्यात्मक प्रयोगो से अभी पूर्णतः मुक्त नही हो पाये हे तथापि वे युग के गभीर सामाजिक प्रश्नो के प्रति सजग होने का प्रयास कर रहे हैं। नये नाटककार भी नये-नये प्रयोग कर रहे हैं, यद्यपि वे अभी तक किन्ही निश्चित रूप-रेखाओं और निश्चित दृष्टिकोणो को नही अपना पाये हैं।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य मे सामाजिक, आर्थिक; राष्ट्रीय तथा अन्तर-राष्ट्रीय क्षेत्रो की बदलती हुई पृष्ठभूमि के अनुरूप नयी प्रवृत्तिया प्रवेश करती चली जा रही है जो आने वाली साहित्यिक उथल-पुथल की सूचक है। यह ठीक है कि नये लेखको और कवियो की नयी प्रवृत्तियाँ और नयी शैलिया अभी तक केवल छिटपुट और अनिश्चित प्रयोगो के रूप मे सामने आ रही है। इस अनिश्चित स्थिति का कारण आज के युग की अनिश्चित और अव्यवस्थित परिस्थितिया हैं। फिर भी यह निश्चित है कि यह प्रयोगात्मक स्थिति धीरे-धीरे एक सुस्पष्ट, सुयोजित और सुनिश्चित साहित्य-धारा मे परिणत होकर रहेगी।

साहित्य में विषाद रस

मनुष्य की सुकुमार वृत्तियो की अभिव्यक्ति मे विषाद रस ने विशेष स्थान अधिकृत किया है। ससार साहित्य के इतिहास मे इस रस की प्रधानता पायी जाती है। विषाद रस अलकार शास्त्र के करुण रस से अभिव्यक्त नही हुआ है, बल्कि करुण रस ही इस महारस का एक अग है। जब कवि संसार के प्रतिदिन के सुख-दुःख का तथा महत्त्वाकाक्षाओ की पूर्ति मे मनुष्य को पग-पग पर प्राप्त होनेवाली बाधाओ का चित्र अकित करने बैठता है तब उस चित्राकन से जो रस उद्वेलित होता है, वही विषाद रस है। विषाद का भाव जीवन की विषमता के कारण मनुष्य की प्रकृति मे निहित है, इसलिए कवि आनन्द का भाव प्रस्फुटित करने की लाख चेष्टा करता है, पर "कँह चंद्रिका चद्र तजि जाई ?" विषाद छाया की तरह उस भाव की आड में छिपा रहता है। कवि को मालूम नही होने पाता कि उसका यह चिर-रहस्यमय सहचर कब और कहा से रवाना हुआ था। साहित्य-रचना के आदिम युग से कविगण विषाद का भाव चित्रित करते आये हैं। होमर के महाकाव्यो तथा सोफाक्लीज़ और यूरिपिडीज़ आदि ग्रीक नाटककारो की ट्रेजेडियों में विषाद का भाव कूट-कूट कर भरा है। हमारे यहा रामायण की सारी कथा में विषाद का ही प्राधान्य है। राम का भाई तथा स्त्री के साथ वनवास, सीता-हरण, लंका का युद्ध, पुत्र के निर्वासन के कारण दशरथ की मृत्यु, माताओं का कठिन दुःख, भ्रातृस्नेह के कारण भरत का कठिन 'असिधार व्रत' आदि सभी घटनाएं कितनी दुःखमूलक हैं, यह बात बतलाने की आवश्यकता नहीं। इन कठिन दुःखो का अत होने भी न पाया था कि सीता वनवास का विकराल दुःख उग्र रूप लेकर सामने आ उपस्थित हुआ। सीता-त्याग से अधिक करुणोत्पादक घटना की अवतारणा ससार-साहित्य के अन्य किसी भी ग्रथ मे शायद नही हुई। इस महाकठिन दुःख की समस्या का कोई समाधान ही नही हो सकता। इसी प्रकार महाभारत के

भीषण युद्ध को सुखमूलक कौन बतला सकता है? इस युद्ध से असंख्य लोगो का विनाश साधन हुआ, जिनमे कई ऐसे प्रतिभाशाली पुरुष थे जो अधिक दिन जीते तो ससार के कल्याण साधन मे विशेष सहायक होते। इस धर्मयुद्ध का फल यह हुआ कि राज्य प्राप्त होने पर पाडव युद्ध की भीषणता देखकर संसार से ही विरक्त होने का विचार करके मौन भाव से महाप्रस्थान के दिन की अपेक्षा करने लगे। इस घोर युद्ध के कारण समस्त राज्य की आबहवा में विषाद का भाव किस प्रकार व्याप्त हो जाता है, इसका उल्लेख महाभारत में विस्तारपूर्वक किया गया है। गीता के आत्मतत्त्व का माहात्म्य जब कृष्ण के चिर सहचर पाडवो के हृदय मे ही दृढता उत्पन्न न कर सका, तो औरो के सम्बन्ध मे कहना ही क्या है! युधिष्ठिर के हृदय मे युद्ध ने कैसी विभीषिका उत्पन्न कर दी थी, इस बात को महाभारतकार ने बडी खूबी से समझाया है। अन्य पाडवो का भी यही हाल था।

उसी प्रकार कुन्ती, गाधारी, धृतराष्ट्र, विदुर आदि विज्ञ और धीर स्त्री-पुरुषो की मानसिक अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय हो जाती है। विधवाओ तथा पुत्रहीन माताओ का हृदयविदारक क्रन्दन हम जैसे अपने अतःकरण के कानो से सुनते हैं। तात्पर्य यह कि सर्वत्र हाहाकार सुनाई पडता है तथा विषाद की ही छाया दिखलाई देती है। महाभारत मे निष्काम कर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है, और पाडवो ने भी उसका माहात्म्य स्वीकार किया है। पर उन्हे उस धर्म को निभाने मे जिन घोर दुःखो का सामना करना पड़ा है, उन्ही से इस महाकाव्य मे विषाद प्रस्फुटित हुआ है।

यूरोप के अर्वाचीन साहित्य में विषाद की रेखा प्रगाढ रूप से अकित है। शेक्सपीयर, ग्येटे, शिलर आदि नाटककारो तथा कवियो की रचनाओ मे विषादरस कूट-कूट कर भरा हुआ पाया जाता है। शेक्सपीयर के 'हैमलेट' मे यह रस पराकाष्ठा को पहुँचा दिया गया है। ग्येटे के 'वेर्टेर' तथा 'फौस्ट' मे मानव-जीवन की असफलता, मनुष्य-चरित्र की दुर्बलता, स्वार्थ-मग्न ससार की संकीर्ण हृदयता आदि और भी कई निराशाजनक कारणो से जीवन की व्यर्थता का चित्र प्रतिफलित हुआ है। 'बायरन' की निराशावादिता के कारण 'बायरनिज्म' का प्रचार चल गया था। इटली मे लिओपार्दी, फ्रास

मे ह्यूगो, लामार्तीन आदि और रूस मे पुश्किन प्रमुख कवियो की रचनाओ में विषाद ही केन्द्रगत भाव है। उन्नीसवी शती के यूरोपियन साहित्य मे शायद ही कोई श्रेष्ठ लेखक ऐसा देखने मे आवे, जिसकी रचना विषाद के भाव से सश्लिष्ट न हो। शेली का जीवन जिस प्रकार सकटाकुल था, उसकी कविता मे उसी प्रकार दुःख की प्रगाढ छाया पडी है। 'स्पिरिट आफ डिलाइट' (आनन्दमयी आत्मा) की खोज मे वह व्यस्त है, पर 'वेस्ट विंड' की सर्वध्वसी, उच्छृङ्खल छायात्मा तथा 'स्पिरिट आफ नाइट' (रात्रि की छायात्मा) के प्रगाढ अधकारमय और सर्व-सहारक होने पर भी उनके नवजीवन और उज्ज्वलता के सूचक रूप पर वह जी-जान से मुग्ध है। वर्ड्सवर्थ तथा टेनीसन के समान शात-प्रकृति कवियो की कविता तक मे विषाद का मृदु भाव पाया जाता है। लूसी नाम की एक अज्ञात, छोटी और प्यारी-सी लडकी के कर्मनिरत सेवापरायण, निरानद तथापि शात, सयत और निर्विकार जीवन की करुण गाथा के वर्णन मे वर्ड्सवर्थ की कविता का मूल भाव केन्द्रीभूत होता है। टेनीसन की कविता उसके 'लोटस ईटर्स' (कमल भक्षक) के 'क्लात मन के मद मधुर विषाद' से सर्वत्र आच्छन्न हुई है। इन दो कवियो के विषाद भाव मे तथा गोल्डस्मिथ के 'ऊजड गाव' और 'वेकफील्ड का पादड़ी' के मूल रस मे हैमलेट का तीव्र विद्रोह नही झलकता, इसमे सदेह नहीं, पर इन कवियो की कल्पना मे अनत के कठिन सनातन नियम ('एटर्नल-ला') के पदप्रात पर विरहिणी मुग्धा नायिका की तरह सहनशीलता के साथ आत्म-समर्पण करने का भाव प्रस्फुटित होता है।

ईसा का मतवाद दुःख के प्रति यही भाव पोषित करने का उपदेश देता है। इस मत मे दुःख को धर्म का एक आवश्यक अग बतलाया गया है। ईसा की इस उक्ति मे कि "शोक मनाने वाले धन्य है, क्योकि उन्हें सात्वना मिलेगी" में यही भाव झलकता है। इसलिए यूरोप में कई श्रेष्ठ साहित्यिको तथा शिल्पियो ने यह भाव अपनाया है। प्रसिद्ध फ्रासीसी चित्रकार मिले ने जब किसानो तथा मजदूरो के जीवन के मधुर चित्र अकित किये, तब यूरोप मे विषाद रस का अपूर्व प्लावन बह गया। टाल्सटाय ने अन्य कई प्रसिद्ध चित्रकारो तथा कलाकोविदों की तीव्र निन्दा करते हुए मिले के

सम्बन्ध में लिखा था कि विषाद का विशुद्ध तथा पवित्र भाव दरसाने के कारण उसके चित्र, ईसाई धर्म के अनुकूल है। रूसो, उसके भक्त टाल्सटाय, तथा इन दोनों के भक्त रोमा रोला—इन तीनों मनीषियों ने ईसा के मतवाद के मूल भाव को ग्रहण कर मानव-जीवन में स्थित विषाद के भाव को गर्व के साथ अपनाया और उसे महिमान्वित किया है।

कालिदास के मेघदूत में चिर-विरहज विषाद का ही सकरुण, पर मधुर तथा आनन्दमय गीत गाया गया है। 'कुमार सभव' में पार्वती की कठिन तपस्या में, विशुद्ध तथा स्थायी प्रेम के लिए आवश्यक कठिन त्याग तथा दुःख की चिरकालिक महिमा का ही प्रतिरूप झलकता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' यद्यपि सुखांत नाटक है, पर अन्त में दुष्यन्त तथा शकुन्तला का मिलन सघटित होने पर भी पढनेवाले के हृदय में दुःखिनी शकुन्तला के 'नियम-क्षाम' मुख की ही छाया पडी हुई रहती है। 'उत्तर रामचरित' में भी राम-सीता के अन्तिम मिलन के बावजूद, हृदय में प्रतिध्वनित निर्वासिता सीता का 'विग्ना कुररीव' दीर्घ क्रन्दन किसी तरह थमना नहीं चाहता।

ऐसा क्यों होता है? मनुष्य को आनन्द के विशुद्ध भाव से विरह-मिश्रित आनन्द क्यों इतना सुखकर प्रतीत होता है? कोरे सुख की अपेक्षा विरह-मिश्रित आनन्द क्यों इतना सुखकर लगता है? विशुद्ध हास्य की अपेक्षा स्नेह-गलित आनन्दाश्रु क्यों प्रिय मालूम देते हे? नवीना किशोरी की प्रेम-जनित चचलता से परिणत-यौवना रमणी के मातृहृदय से विकसित गाभीर्य क्यों मधुरतर जान पडता है? मनुष्य की यह विषाद-ग्राहिणी प्रवृत्ति अत्यन्त रहस्यमय है। वसंत के उज्ज्वल प्रभात से शरत्काल की प्रशात सन्ध्या हृदय मे अधिक उत्सुकता उत्पन्न करती है। नदी के चचल कलहास्य से समुद्र का विकराल गाभीर्य कवियों को अधिक मोहित करता है। उद्यान की रमणीयता मे अरण्य की मर्मर-ध्वनि चित्त को अधिक आदोलित करती है। रवीन्द्रनाथ को छाया के भाव ने अधिक मोहित किया है। व्यक्त के पीछे वह सदा अव्यक्त की छाया के सधान मे रहे है। उज्ज्वलता के दृश्य से उनके हृदय मे अन्धकार की छाया घनीभूत हुई है। विषाद के गाभीर्य का उन्होने गौरव के साथ वर्णन किया है। अपनी एक कविता मे वह स्वय लिखते हैं :

"यदि आज मेरी प्रिया जीवित होती तो उसे मैं अपने हृदय में स्थित विषाद की बृहत् छाया तथा सुगभीर विरह की वेदना से परिचित कराता।" इसी बात को उन्होने फिर से समझाया है : "जिस प्रकार दिन का अवसान होने पर रात्रि के अन्धकार-निलय में विश्व अपने ग्रह-तारकाओ को लेकर प्रकट होता है, उसी प्रकार हास-परिहास से मुक्त मेरे हृदय मे वह अन्तहीन जगत् का विस्तार देखती।" आत्मा की विपुलता, अन्धकार की विजनता ही में प्रगट होती है। उज्ज्वलता मे चाचल्य का भाव वर्तमान रहता है और अन्धकार मे एक प्रकार का स्थायित्व है। इसी कारण अन्धकार की स्तब्धता कवियो को इतनी प्रिय है। सध्यातारा के स्तिमित प्रकाश में एक प्रकार का मधुर तथा स्थायी विषाद का भाव वर्तमान है। इसलिए कितने ही कवियो ने कितने ही प्रकार से इसके सौदर्य का वर्णन किया है, पर फिर भी उन्हे तृप्ति नही हुई। लूसी के सम्बन्ध मे वर्ड्सवर्थ की यह उक्ति प्रसिद्ध हो गई है : "वह साध्य आकाश मे टिमटिमाने वाले एकमात्र तारे के समान सुन्दर थी।" रवीन्द्रनाथ ने भी सध्या-तारा का उल्लेख स्थान-स्थान पर किया है। 'सध्यार-लक्ष्मीर मत सध्यातारा करे' आदि पद अत्यन्त सुन्दर जान पड़ते हैं। किसी नायिका के प्रति स्थायी प्रेम का उल्लेख करने के समय कविगण छायामय अन्धकार का भाव ही अधिक देख पाते हैं। बायरन ने अपने स्थिर प्रेम की भावना के लिए भी अन्धकार के भाव की आवश्यकता समझी। अपनी एक प्रिया के सम्बन्ध मे वह लिखता है : "प्रकाश तथा अन्धकार मे जो कुछ भी सौदर्य भरा है, वह मिलकर उसमे एकाकार हो गया है।" दुष्यन्त का चचल प्रेम जब सुदीर्घ विरह के कठिन दुःख से स्थिरता प्राप्त करता है तब मृगनयनी शकुन्तला के चचल कटाक्ष तथा भ्रू-विलास की अपेक्षा उसका नियम-क्षाम मुख ही उसे अधिक आनन्दकर प्रतीत होता है। शकुन्तला अब नवीना प्रेमिका नही रह गयी है। उसके व्यथित हृदय से अब जननी-सुलभ वात्सल्य-रस स्निग्ध भाव से टपका पड़ता है। इसलिए उसका नियम-क्लिष्ट, रस-मडित मुखमन्डल दुष्यन्त के हृदय मे प्रगाढ विषाद की सुदीर्घ छाया घनीभूत करके उसको विमुग्ध कर देता है। छाया के अन्धकार मे यह जो स्थायित्व का भाव छिपा हुआ है, उसकी मोहिनी अपूर्व रहस्यमय है।

गीति-कविता में जिस कारण से विषाद की छाया वर्तमान पायी जाती है, नाटकों तथा उपन्यासों में वह कारण हम नहीं पाते। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में विषाद का मूल कारण दुष्यन्त तथा शकुन्तला की चरित्रगत दुर्बलता है। इन दोनो के बीच गाधर्व-विवाह का जो सम्बन्ध स्थापित हुआ था, उसके मूल मे प्रेम की निगूढ़ वेदना नहीं वरन् वासना की चंचलता निहित थी। यही कारण था कि दुष्यन्त शकुन्तला को गर्भाधान संस्कार के बाद कठिन विरह-दुःख में अकेली छोड कर चले गये। लोकलज्जा के विचार से ही उन्होने उससे सम्बन्ध बनाये रखना उचित नहीं समझा। दुर्वासा के शाप ने इसके पश्चात् उन्हे मतिभ्रष्ट किया था। शकुन्तला का प्रेम भी आरम्भ मे अन्तस्तल की वेदना से उत्थित प्रेम नही था, वह प्रथम यौवन की विलोल-हिल्लोल वासना के मद से विभोर, प्रथम वरणीय पुरुष के दर्शन से मुग्ध, नवीना युवती की विभ्रान्त विह्वलता थी। यही विह्वलता उसके सुदीर्घ दुःख का कारण हुई, और इसी से उसे प्रेम का महत्व समझने में सहायता भी मिली। महत्ता तथा विपुलता की अनुभूति के लिए जब मनुष्य जीवन के सुदुर्गम पथ पर अग्रसर हो जाता है, तब उसे अपनी अन्तर्गत दुर्बलता के कारण अनेक बाधा-विघ्नो का सामना करना पड़ता है। इन बाधाओं के कारण ही विषाद का भाव उत्पन्न होता है। इस भाव को ग्येटे ने 'फौस्ट' में बड़ी खूबी के साथ समझाया है। फौस्ट अपनी जटिल तथा दुर्बोध प्रकृति के चक्र से स्वय चक्कर मे आता है, और उस जटिलता का विश्लेषण करते हुए कहता है: "हाय! मेरे अभ्यन्तर में दो आत्माएँ पर्यवसित हैं, जिनमें से प्रत्येक दूसरी को हटाने की चेष्टा मे निरत रहती है। एक तो मद-विह्वल होकर ससार को भोग की इच्छा से इन्द्रियो द्वारा अत्यन्त प्रबलता से जकड़े रहना चाहती है, और दूसरी भोग की इस धूल को झाड कर अनन्त के साथ मिलित होने की आकाङ्क्षा करती है।" द्विविध प्रकृति का भाव कुछ न कुछ अंश में प्रत्येक व्यक्ति मे पाया जाता है, पर प्रतिभाशाली तथा विवेचक व्यक्तियों में दो परस्पर विरोधी प्रकृतियो की धाराएं अत्यन्त स्पष्ट रूप से अलग-अलग बहती हुई दिखलाई देती हैं। यही कारण है कि प्रतिभाशाली तथा विवेचक स्त्री-पुरुष ससार में सबसे अधिक दुःखी होते हैं। एक तरफ उनके

चरित्र की दुर्बलता उनको पार्थिव सुख के लिए उत्तेजित करती है और दूसरी ओर उनकी प्रकृति अनंत के साथ सयोग के लिए व्याकुल रहती है। इन द्विविध भावो के सघर्षण से दुःख की ज्वाला भडक उठती है।

प्रतिभाशाली व्यक्तियो में इन परस्पर-विरोधी भावो की प्रबलता क्यो पाई जाती है, इस समस्या का समाधान पाश्चात्य आचार्यों ने मनोविज्ञान के आधार पर करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि भाव तथा शक्ति-विशेष के ऐकातिक अनुशीलन से मनुष्य के भीतर निहित समस्त शक्तिया एकीभूत होकर केवल उसी एक भाव अथवा शक्ति के उत्कर्ष मे सफल होती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उनकी अन्य वृत्तिया दुर्बल पड जाती है, यहा तक कि साधारण मनुष्य से भी कई बातो मे प्रतिभाशाली व्यक्ति गिरा हुआ होता है। पर एक विशेष भाव अथवा शक्ति के उत्कर्ष के कारण उसकी महत्ता प्रतिपादित हो जाती है। अन्य वृत्तियो के दुर्बल पडने से उसे जीवन पर्यंत कठिन दुःख उठाना पडता है। यह मनोवैज्ञानिक कारण यद्यपि असगत नही, तथापि मानव-चरित्र इतना रहस्यमय है कि उसकी गति को कुछ विशेष वैज्ञानिक नियमो से निरूपित कर देना अनुचित जान पडता है। राम जैसे तीव्र प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के सम्बन्ध मे यह कोई नही कह सकता कि उनकी सभी वृत्तिया यथोचित रूप से उत्कर्ष को प्राप्त नही थी। तब सीता-त्याग के सम्बन्ध मे उनकी दुर्बलता का क्या कारण दिया जा सकता है? फिर भी यह बात माननी पडती है कि अधिकाश प्रतिभाशाली स्त्री-पुरुषो की चरित्रगत दुर्बलता उनके आभ्यतरिक असामञ्जस्य के कारण ही प्रकट होती है। युधिष्ठिर परम धर्मभीरु होने पर भी जुए मे अपनी स्त्री तक को हार जाते हैं। कोई साधारण व्यक्ति भी अधःपात की इस सीमा तक नहीं पहुँच सकता। अन्तःप्रकृति का यह असामञ्जस्य एक तरफ उनको धर्म के शिखर पर पहुँचने के लिये प्रेरित करता है, और दूसरी तरफ अत्यन्त दीन बना देता है। इस असामञ्जस्य का कारण मनुष्य के अन्तस्तल के भीतर निहित किसी रहस्यमय निगूढ विकार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? ग्यैटे ने 'फौस्ट' मे मनुष्य के इस गहन मानसिक विकार पर सूक्ष्म रूप से विचार किया है।" महाभारत मे इस प्रकार के कितने ही विकारग्रस्त प्रतिभाशाली

स्त्री-पुरुषों का उल्लेख पाया जाता है। यूरोप के प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य में ऐसे कितने ही चरित्र अकित हुए है। पाश्चात्य साहित्य मे श्रेष्ठ 'ट्रेजेडियों' के नायक इसी प्रकार के द्विविध व्यक्तित्व-सम्पन्न जीव हैं। हैमलेट और ओथेलो मे यह प्रकृति पूर्ण मात्रा मे पाई जाती है। हैमलेट के चरित्र मे हम चित्तोत्कर्ष को चरमावस्था मे पहुँचा हुआ पाते है, पर ससार की कठोर वास्तविकता पर विजय पानेवाली शक्ति उसमे नाम को भी न होने के कारण सशय, भ्रम तथा द्विविधा ने उसे अकर्मण्य बना दिया। उसकी द्विविधा-जनित अकर्मण्यता के कारण ही उसका तथा उसके साथ और भी कई लोगो का विनाश हुआ। ओथेलो मे साहस तथा शौर्य की मात्रा हद तक पहुँच गई थी, पर उसमे हम चित्तोत्कर्ष कुछ भी नही पाते। इसी कारण उसने द्विविधाहीन होकर अपनी प्यारी पत्नी की निर्मम हत्या कर डाली और अन्त को आत्मघात करके ही शात हुआ। हैमलेट से हम स्त्री-हत्या की आशा कदापि नही कर सकते। तात्पर्य यह कि दोनो की साधना की गति पृथक-पृथक है। दोनो ने एक-एक विशेष वृत्ति के विकास को अपने चरित्र मे हद तक पहुँचा दिया था। -पर अन्य वृत्तियो मे दोनो हीन है। ससार-चक्र में किसी भी महान् व्यक्ति के जीवन की 'ट्रेजेडी' (शोकप्रद अन्त) पर लक्ष्य कीजिये, उसका मूल कारण अन्तःप्रकृति का यही असामञ्जस्य अथवा वैषम्य होगा। यूरोप के दुखान्त नाटक-साहित्य का जन्म इसी असामञ्जस्य की अनुभूति से हुआ है।

पर इस अतल, अथाह दुःख-सागर से त्राण पाने का कोई उपाय पाश्चात्य कवियो ने निर्देशित नही किया। उन्होने दुःख का चित्र खीच कर ही अपना कर्त्तव्य पूरा हुआ समझा है। पर हमारे साहित्य मे यह बात नही है। दुःख क्या प्राच्य क्या पाश्चात्य सभी देशो के लोगो मे समभाव से वर्तमान है, किन्तु हमारे कवियो ने उसे सहनशीलता के साथ ग्रहण किया है, और उसकी सार्थकता कहा पर है, इस बात पर विचार किया है। शकुन्तला के चरित्र मे कवि ने दिखलाया है कि मानव-चरित्र की दुर्बलता से उत्पन्न प्रेम की चचलता का परिणाम दुःखप्रद ही होता है। यह दुःख अवश्यभावी है। पर इसकी सार्थकता भी है। वह है चचलता को कठिन त्याग तथा मातृत्व के स्नेहाश्रु द्वारा स्थायित्व प्रदान करके मंगलमय प्रेम मे परिणत करना। यह भाव

किसी नैतिक शासन से नहीं, वरन् दुःख की आतरिक ज्वाला से निखर कर भीतर से ही विकसित होता है। इस प्राच्य भाव को कुछ पाश्चात्य कवियों ने भी पूर्ण रूप से, बडी सुन्दरता के साथ अपनाया है। शेक्सपीयर ने ईसाई धर्म के मूल प्राण की अवहेलना की है, अन्यथा वह भी दुःख को शात रूप से ग्रहण करता।

ईसाई धर्म मे दुःख की सार्थकता बतलाई गई है। "शोकप्रकाश करने वालो को सान्त्वना दी जायगी," इसलिये दुःख निरर्थक नही है। दुःख से सात्वना मिलेगी जिससे अनत का रहस्य समझने मे सहायता प्राप्त होगी। शेली की "इस धरातल के विषादमय वातावरण से ऊपर उठकर किसी दूर-स्थित उच्चभाव मे मग्न हो जाने" की आकाक्षा मे भी यही भाव व्यक्त होता है। शेक्सपीयर की ट्रेजेडियो मे निरर्थक दुःख का ताडव नृत्य दिखलाया गया है। उसमे पाप की विभीषिका, आत्म-विद्रोह की प्रचडता तथा निरर्थक हत्याकाड की उग्रता के चित्र कवि के हृदयस्थित शोक के रग से रजित हुए हैं, सदेह नहीं। पर वह शोक किसी परिणाम को नही पहुचा।

शेक्सपीयर के नाटको के नायक छिन्न मेघ की तरह दुःख के महाकाश में भटकते फिरते हैं। पर महत् कल्याण की स्थिर शाति को प्राप्त करने का कोई मार्ग वे नही ढूंढ पाते। तथापि इस प्रकार का दुःख अत्यन्त उत्कट तथा तीव्र होता है। इसकी कोई सार्थकता न होने पर भी अनत के तट पर यह अपना चिन्ह अकित कर ही देता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि अंधकार की छाया के भीतर एक प्रकार का स्थायित्व भाव पाया जाता है। रात-दिन के सुख-दुःख की चचलता को स्थायित्व के सूत्र में ग्रथित करना ही विषाद-विशिष्ट साहित्य का उद्देश्य है। क्या कालिदास के सुखात नाटकों में और क्या शेक्सपीयर की ट्रेजेडियो में इसी एकमात्र उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही विषाद रस का सन्निवेश पाया जाता है। उद्देश्य की पूर्ति से हमारा मतलब यह नही है कि कवि लोग किसी विशेष उद्देश्य को लेकर ही विषाद रस की अवतारणा करते हैं। हमारे कहने का तात्पर्य केवल यह है कि विषाद का भाव अस्थिर को स्थिरता से, चचल को गाभीर्य से तथा अस्थायी को स्थायित्व से मंडित कर देता है।

छोटी कहानी की विशेषता

"निमेषे निमेष होये जाक् शेष
बहि निमेषेर काहिनी"
(प्रत्येक पल प्रतिपल की ही कहानी अपने भीतर वहन
करता हुआ पल ही मे विलीन हो जाय।)

—रवीन्द्रनाथ

आजकल हिन्दी साहित्य मे छोटी कहानियो का बोलबाला है। बिना कहानियों के मासिक पत्रो की गुजर नहीं। पर सत्साहित्य के नाम से कथा-साहित्य का जिस प्रकार सत्यानाश किया जा रहा है, उसे देखकर आतरिक दुःख होता है। अगर कोई लेखक कोरे मनोरजन के लिये कोई कहानी लिखता है, तो दूसरा लेखक कोरी तात्वालोचना मे अपनी शक्ति का अपव्यय करता है। कहानी का उद्देश्य इन दोनो के ऊपर है। मनुष्य के हृदय-पट में अनेकानेक सुख-दुःखो का चक्र प्रतिक्षण धूप-छाह का-सा खेल खेलता रहता है। इस धूप-छाह का चित्र यथार्थ रूप से अकित करके उसे अपने हृदय के सुन्दर रगो और अभिनव भावों से रजित करना ही सच्चे कलाविद् का उद्देश्य रहता है। कहानी का उद्देश्य न तो मनोरजन ही है और न शिक्षा ही। उसका उद्देश्य है स्वाभाविक रीति से यथार्थमूलक सौदर्य और आनन्द को प्रतिफलित करना। हृदय के भाव नाना अवस्थाओ में बदलते रहते हैं। जीवन का चक्र नाना [illegible] के सघर्षण से उलटी-सीधी गति से चलता रहता है। इस सुवृहत् चक्र की किसी विशेष परिस्थिति की क्षणिक गति को प्रदर्शित करने—हृदय में भावो की किसी विशेष अवस्था के रगो को रजित करने में ही कहानी की विशेषता है। ससार मे प्रत्येक पल की कहानी उसी पल में समाप्त होकर अनन्त से सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा में है। छोटी कहानी मे पल की यही क्षणिक गाथा वर्णित की जाती है। जिस मानसिक स्थिति से प्रणोदित होकर रविन्द्रनाथ लिखते हैं :

शुधु अकारण पुलके
क्षणिकेर गान गारे आजि प्राण
क्षणिक दिनेर आलोके

"हे मेरे प्राण! तू केवल अकारण पुलक से पुलकित होकर, तू आज क्षणिक दिन के आलोक मे केवल क्षण का ही गीत गा।" उसी मानसिक स्थिति की प्रेरणा से कवि छोटी कहानी लिखने को तत्पर होता है। "क्षणिक का गीत" यद्यपि प्रत्यक्ष मे अस्थायी होता है, तथापि परोक्ष मे वह अनन्त के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। प्रत्येक पल की कहानी प्रत्येक पल मे समाप्त होने पर भी अपने आप मे पूर्ण है। इसलिये वह उपेक्षणीय नही है। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। पूर्ण से पूर्ण ले लेने से पूर्ण ही शेष रहता है। जिस प्रकार सृष्टि के प्रत्येक परमाणु के भीतर सौर-चक्र वर्तमान होने से वह अपने आप मे पूर्ण है, उसी प्रकार प्रत्येक निमेष की कहानी भी।

बिना किसी कारण के पुलकित होकर कवि यह जो छोटी कहानी लिखने बैठता है, यह क्या केवल सुख की रचना है, दुःख की नही? पुलक का सञ्चार क्या केवल सुख ही के कारण होता है? नही, दुःख की घटना भी अपने अदृश्य रस से कवि को पुलकित करने मे समर्थ होती है। अगर ऐसा न होता तो ट्रेजेडी का कला मे कोई स्थान ही न होता, और करुण रस निरर्थक होता। हमारे कवि ने करुण रस को सब रसो का सरताज माना है:

एको रसः करुणमेव निमित्तभेदाद्,
भिन्नः पृथक् पृथगिव श्रयते विवर्तान्।

एक ही करुण रस, अवस्था के भेद से, नाना रसो के रूप में प्रकाशित होता है। दुःख मे भी एक प्रकार का माधुर्य भरा है। जो व्यक्ति सुखलिप्त नहीं रहता वह दुःख में भी निर्विकार रहता है, और इसी कारण दोनो का रस ग्रहण करने मे समर्थ होता है। रुद्र को सृष्टि और प्रलय के भीषण तांडव नृत्य मे इतना आनन्द क्यो प्राप्त होता है? कारण केवल यह है कि वह इन अवस्थाओ मे से किसी में भी लिप्त नहीं है, वह तटस्थ भाव से उन

सब का रस ग्रहण कर सकने मे समर्थ है। जब तक कवि दुःख के रस में पूरी तरह डूबकर उसमे से बेदाग बाहर नही निकल आता, तब तक वह अच्छी कहानी या कविता लिखने मे समर्थ नही हो सकता। यह रस ऐसा है कि जिसमे—'अनबूडे बूडे, तिरे जे बूडे सब अग'।

इसमे एक बार सबको डूबना पडता है। जो डूबा रह जाता है, वह गया। जो पूर्णतः डूबकर बाहर निकल आता है वही कवि है, वही ज्ञानी है, वही दार्शनिक है, और सब पाखन्डी हैं। जिनकी रग-रग रस से ओत-प्रोत नही है, वे लोग अगर कोई कहानी या कविता लिखते है, तो वे 'लिट-रेरी पेरेजाइट्स' (साहित्यिक गलग्रह) के अतिरिक्त और कुछ नही है। जब तक कवि दुःख में डूबा हुआ रहता, तब तक वह जो भी रस पिलाता है, वह कडवा होता है। पर जब दुःख का रस उसकी आत्मा से छनकर निकलता है, तब उसका स्वाद ही अनिर्वचनीय हो जाता है।

प्रतिदिन के सुख-दुःख का रस ही जीवन का रस है। इस रस के आगे कोई भी तत्त्व ठहर नही सकता। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मानव-जीवन का रस मनोरजन और तत्त्व, इन दोनो के परे है। पर इसके यह मानी नही कि वह आदर्शहीन है। नही, वह आदर्श से पूर्ण है। उसके आदर्श हैं—सौंदर्य और सामजस्य। यहा पर जिज्ञासु पाठक यह प्रश्न कर सकते हैं कि सौंदर्य और सामजस्य ही जब छोटी कहानी के आदर्श है, तो इससे पढने वालो को और समाज को फायदा क्या हुआ? इसके उत्तर मे मैं कहूँगा कि सौंदर्य के स्वाभाविक सामजस्य की परिणति मानव-चरित्र को उन्नत बनाने में जितनी सहायता कर सकती है, उतना कोई शिक्षाप्रद कहानी नही। अप-नी बात मैं दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करना चाहता हूँ। मान लीजिये, कोई स्त्री विधवा है और मायके मे आकर रहती है। वहा वह गृहस्थ-जीवन के धन्धो में लगी है। यदि वह रूपवती होगी तो अवश्य ही किसी कहानी लेखक की नजरो मे आ जायगी। मान लीजिये, दो कहानी लेखको की शुभ दृष्टि उस पर पडी है। यह भी फर्ज कर लीजिये कि उनमे से एक कहानी-लेखक शिक्षाप्रद कहानिया लिखना पसन्द करता है, और दूसरा स्वाभाविकता का पक्षपाती है। इत्तफाक से शिक्षा-पसन्द कहानी-लेखक से किसी सम्पादक ने

अपने पत्र के 'विधवाक' के लिये कोई कहानी लिखने की प्रार्थना की। अब वह लेखक सम्पादक का आशय समझ कर उस विधवा के सम्बन्ध मे अवश्य ही ऐसी कल्पना करेगा कि वह या तो वैधव्य-यन्त्रणा सहन न कर सकने के कारण कुलटा बन गयी है या इतनी बड़ी सती है कि कितने ही मुग्ध प्रेमियो की प्रेम-याचना को तिरस्कृत करके धर्म-कर्म मे लगी है और तुलसीकृत रामायण की अनसूया की तरह अन्य स्त्रियो को सतीत्व का उपदेश दे रही है।

कहना नही होगा कि यह कहानी पाने से सम्पादक महोदय पुलकित हो उठेगे, और अपने विधवाक को कृतार्थ समझेंगे। दोनो प्रकार के चित्रो से समाज को शिक्षा मिलेगी। पहली कल्पना से समाज की दुर्दशा पर प्रकाश पड़ेगा, और दूसरी कल्पना से हिन्दू विधवा का महान् आदर्श जनता मे प्रतिष्ठित होगा। इसलिये शिक्षा-पसन्द आर्टिस्ट महाशय अवश्य ही पाठक और सम्पादक समाज के धन्यवाद के पात्र होगे, इसमे सन्देह नही। पर दूसरा लेखक कभी सम्पादक, समालोचक और पाठक की माग के अनुसार कहानी नही लिखेगा। वह लिखेगा अपने हृदय की प्रेरणा से। वह सम्भवतः उस विधवा सुन्दरी के वास्तविक जीवन के प्रति दृष्टि रखकर उसके सम्बन्ध मे यह कल्पना करेगा कि वह अपने वैधव्य के असहनीय दुःख की ज्वाला को अपने हृदय में शातभाव से वहन करती हुई अपने माता-पिता, भाई-बहन और बहू-भाभियो पर अपने स्निग्ध हृदय का सुमगल स्नेह बरसाती हुई, अविच्छिन्न रूप से, अविराम गति से घर के धन्धो में लगी हुई है; न किसी को कोई उपदेश देती है, न किसी का कोई उपदेश सुनती है, अपने हृदय की प्रचड अग्नि को अपने ही हृदय की राख से ढके हुए है, किसी से अपने दुःख की शिकायत नही करती, केवल अनन्त की प्रतीक्षा मे है, और अनन्त के लिये ही अपने जीवन का दीपक जलाए बैठी है। इस कर्म-निरता देवी, इस अज्ञात तपस्विनी के जीवन की स्वाभाविक स्निग्ध छवि की एक झलक यदि वह लेखक अपनी छोटी कहानी मे दिखा सके, तो उसकी स्निग्धता का जो प्रभाव पाठकों के हृदयों पर, उनके चरित्र पर पड़ेगा वह क्या कभी शिक्षाप्रद कहानी लेखक की रचना से पड सकता है? सौदर्य अपने आप मे पूर्ण है। उसे किसी शिक्षा की आवश्यता नही। सौदर्य की स्वाभाविकता मनुष्य को अपकर्मों से बचाने

मे जितनी सहायक होती है उतनी कोई शिक्षा नही हो सकती। ग्येटे ने अपने फौस्ट नामक नाटक मे दिखलाया है कि फौस्ट ससार के दुःखो से ऊबकर, जहर का प्याला हाथ मे लेकर, मुँह मे डालना ही चाहता है कि अचानक बाहर सुमधुर सगीत का शब्द सुनकर किसी अनिर्वचनीय महद्भावना के उल्लास से पुलकित होकर थम जाता है। सगीत का सौदर्य उसे आत्महत्या के पाप से बचा देता है। इसी प्रकार सच्चरित्रा स्त्रियो के स्निग्ध प्रेम के कारण ऐसे आततायी अपराधियो को शीलवान होते देखा गया है, जिन्हे दंड द्वारा दी गयी शिक्षा नही सुधार सकी।

वर्तमान हिन्दी साहित्य मे यह भ्रात धारणा लोगो में बद्धमूल हो गई है कि किसी शिक्षा के बिना कहानी व्यर्थ है। इस कारण जहा देखिये वहा शिक्षा का जोर है। इसी प्रवृत्ति को हम लोग साहित्य की उन्नतावस्था समझ बैठे हैं। प्रेमचन्द जी की रचनाओ मे यदि शिक्षा भरी पडी है, उनमें रचना कौशल भी वर्तमान है। इस कारण उनकी कहानियो मे भी एक विशेष स्वाद पाया जाता है। पर उनके अनुयायी उनके दोष का ही अनुकरण करने मे समर्थ हुए हैं, गुणो का नही। तुच्छ सासारिक शिक्षा देना ही क्या चरम पुरुषार्थ है? मैं तो कहूँगा कि जो लेखक देने के बदले पाठको को अपना हृदय प्रदान कर सकता है वही श्रेष्ठ कलावित् है। कला का सम्बन्ध केवल मस्तिष्क या केवल हृदय से नहीं है। दोनों के सुसामजस्यपूर्ण सम्बन्ध से ही श्रेष्ठ कला की उद्भावना होती है।

आधुनिक छोटी कहानी का प्रचलन पहले-पहल किस लेखक ने किया था, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। पर इसकी विशेषता सबसे पहले जर्मन कवि ग्येटे की कहानियो मे पायी जाती है। इस महाकवि ने केवल कहानियो मे ही नही, अपनी किसी भी रचना में कभी कोई उद्देश्य नहीं निर्देशित किया है। रहस्यमय मानव-जीवन की सुख-दुःखमयी विचित्रताओं की झलक उसने अपनी कहानियों मे दिखलाई है। कथा साहित्य के लिये फ्रांस प्रसिद्ध है, और वहाँ भी मोपासा इस कला मे सबसे अधिक ख्यातिप्राप्त है। इस लेखक की कहानियो मे रविन्द्रनाथ की कविता का निम्नलिखित भाव पाया जाता है:

नदी जले पडा आलोर मतन
छुटे जा झलक झलके !

अर्थात् "नदी के अविरल जल स्रोत मे पडे हुए आलोक की तरह झिल-मिली झलक से बहता चला जा।"

पूर्वोक्त फ्रासीसी लेखक ने वह झिलमिली झलक बडी सुन्दरता के साथ अपनी कहानियो मे दर्शाई है। पर उसकी कहानियो मे जीवन-सागर के भीतर उथलने वाला गभीर रूप नही पाया जाता। इस कारण उसकी छिछ-ली भावुकता रसज्ञ व्यक्ति को अनेक समय अत्यन्त अरुचिकर प्रतीत होती है। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि उसने अपनी कहानियो मे किसी प्रकार की शिक्षा प्रदान करने की चेष्टा नही की है। विशेष विशेष भावो को प्रतिबिम्बित करना ही उसका प्रथम तथा अन्तिम उद्देश्य रहा है। संध्या के स्वर्णिम आलोक मे जो व्यक्ति निर्झर के झरझर प्रपात का अनुपम दृश्य देख कर मुग्ध है, मनुष्य के व्यक्तिगत सुख-दुःख की रग-विरगी आभाओ से जिसका मन उल्लसित हो उठा है वह क्यो कोई शिक्षा किसी को देने लगा। वह तो केवल आनन्द की ही अनुभूति व्यक्त करेगा। डिकस की कहानियो मे भी कही लौकिक शिक्षा का समावेश नही है। उनमे मानव-जगत के सुख-दुःखों को निष्ठुर परिहास मे परिणत करके कोरा विनोद प्रदर्शित करने का प्रयत्न अवश्य किया गया है। इस प्रकार का आमोद और हास-परिहास यद्यपि अवास्तविक है, और इस प्रकार की कहानिया यद्यपि उच्च कला के अन्तर्गत सम्मिलित नही की जा सकती (भले ही अग्रेज लोग उनकी श्रेष्ठता की डीग मारते रहे) तथापि वे भी उद्देश्य-प्रधान नही हैं।

समस्त साहित्य-ससार मे यदि उच्च कोटि की कलात्मक कहानियां लिखनें में कोई लेखक सफल हुए हैं, तो वे हैं रूसी लेखक, और उनमे भी विशेषतः टाल्सटाय और चेकाफ। सभी लोगो को विदित है कि टाल्सटाय कितने कट्टर नीतिनिष्ठ थे। पर उन्होने अपनी कहानियो मे भावो को प्रतिबिम्बित करने के अतिरिक्त कही भी कोई शिक्षा या नीति प्रतिष्ठित करने की चेष्टा नहीं की है। अन्तिम जीवन मे उन्होने जो नैतिक उपदेशपूर्ण 'पैरेबल्स' लिखे थे वे कला के अन्तर्गत नही आते। वे उनके लेखो के अन्तर्गत है। जब कोई

रूसी हमसे पूछे कि क्या आपने टाल्सटाय की कहानिया पढी है ? और हम इसका अर्थ यह समझे कि हमने उनके धर्म और नीति सम्बन्धी रूपक पढ़े है, तो वह हमारी अल्पज्ञता पर हँसेगा। टाल्सटाय की वास्तविक छोटी कहानिया और उनके 'पैरेबल्स' एक दूसरे से बिलकुल भिन्न है।

टाल्सटाय अवश्य यह मानते थे कि मनुष्य के लिए नैतिक शिक्षा की आवश्यकता है। पर वह यह भी जानते थे कि कला के भीतर शिक्षा का लेश मात्र स्थान नही है। उनकी 'कज्जाक', 'आइवान इलियिच की मृत्यु', 'जमींदार' आदि कहानिया पढिये। आपको मालूम होगा कि मानव-जीवन की मूल प्रवृत्तियो के द्वन्द्व का जो स्वाभाविक सौंदर्य टाल्सटाय ने इन कहानियो मे दर्शाया है, उसके सामने कोई भी शिक्षा या नीति नाचीज है। चेकाफ की कहानियो का भी यही हाल है। जीवन के विषाद का अतल सागर मथकर इन दो कलाविदो ने जो अनिर्वचनीय रस निकाला है, उसकी तुलना मे क्या कोई तुच्छ सामाजिक शिक्षा ठहर सकती है ? हमारे देश मे रवीन्द्रनाथ और शरच्चन्द्र ने कहानी लिखने मे विशेष ख्याति प्राप्त की है। रवीन्द्रनाथ की कहानियो मे उन्ही की कविता का पूर्वोक्त भाव पाया जाता है :

शुधु अकारण पुलके
क्षणिकेर गान गारे आजि प्राण
क्षणिक दिनेर आलोके !

और

नदी जले पड़ा आलोर मतन
छुटे जा झलके झलके !

अर्थात् अकारण पुलक से दिन के आलोक मे क्षणिक का गीत गाना और नदी के अविरल जल स्रोत पर पड़े हुए प्रकाश की तरह झिलमिलाते हुए बहना—उनकी कहानियो की विशेषता है। पर उसकी झलक अत्यन्त अस्पष्ट और मायामरीचिका की तरह भ्रम उत्पन्न करने वाली है। इसमें सदेह नही कि उनमे शिक्षा की गन्ध तक नही है, और केवल निष्कलुष आनन्द का आभास है। पर यह सब होने पर भी उनकी कहानिया छायात्मक अधिक हैं, सत्तात्मक कम। उनकी कहानियो मे स्वप्नलोक की ठगनी माया का ही प्रभाव अधिक है। ग्येटे, टाल्सटाय, चेकाफ आदि लेखको की कहा-

नियो मे व्यक्तिगत जीवन के प्रतिदिन के सुख-दुःख के जो कारुणिक और सत्तात्मक चित्र अंकित पाये जाते है, रवीन्द्रनाथ की कहानियो मे उनका आभास कहा ! वास्तविक व्यक्तिगत वेदना की अनुभूति मे रवीन्द्रनाथ ने कोई भी कहानी नही लिखी। उनकी कहानियों की अपेक्षा कविताओं मे अधिक सत्तात्मक और व्यक्तिगत भाव पाये जाते है। वर्तमान युग मे छोटी कहानी नाम की यह जो एक नई ललित कला आविर्भूत हुई है, इसकी विशेषता यही है कि यह व्यक्ति के प्रतिदिन के साधारण जीवन की वास्तविक वेदना की सत्ता को यथार्थ रूप मे अंकित करके उसे अनन्त की सत्ता के साथ मिला देने मे समर्थ होती है। मनुष्य का प्रतिदिन का जीवन कोई भौतिक लीला नही है। वह सत्य है, वह वास्तविक है। कविता मे भले ही उस जीवन की छाया प्रदर्शित की जाय किन्तु कहानी मे उसकी वास्तविक प्राण-सत्ता प्रकट होनी चाहिये। रवीन्द्रनाथ यद्यपि व्यक्ति के सत्तात्मक जीवन के बड़े पक्षपाती रहे हैं, तथापि उनकी अधिकाश कहानियों मे हम छाया ही पाते है। यद्यपि वह छाया अत्यन्त सुन्दर तथा अनुपम है, तथापि उससे कहानी की विशेषता खर्च हो जाती है।

शरच्चन्द्र की कहानियो मे व्यक्ति के जीवन की सत्ता यथार्थ रूप से प्रस्फुटित हुई है। उनकी 'बिन्दुर छेले', 'रामेर सुमति', 'मेज दीदी' आदि कहानियो मे प्रतिदिन के साधारण जीवन की वास्तविक सत्तात्मक वेदना ही मथित हुई है।

हिन्दी साहित्य मे प्रेमचन्द जी की कहानियो ने विशेष ख्याति प्राप्त की है। उनकी कहानिया शिक्षा-प्रधान हैं, पर उनमे से कुछ ऐसी भी हैं, जो सत्तात्मक और सुन्दर हैं। उदाहरण के लिये उनकी 'सौत' शीर्षक कहानी पढ़िये। यह कहानी भाव-प्रधान है, इसलिये इसकी सुन्दरता अपूर्व रूप से खिल उठी है।

कहानी के मूल भावो का सम्बन्ध मस्तिष्क द्वारा विश्लेषित हृदय से होना चाहिये। उसका उद्देश्य रसावेग को उभाड़ने का अधिक होना चाहिये, शिक्षावृत्ति को जागरित करने का नहीं। वह सत्तात्मक होनी चाहिये, छायात्मक नहीं।

मेरे उपन्यास

मेरे उपन्यासो के सम्बन्ध मे विभिन्न आलोचको ने भिन्न-भिन्न प्रकार की सम्मतिया प्रकट की हैं। कइयो ने उनकी प्रशसा की है तो कइयो को वे पसन्द नहीं आये है। किसी ने उनके विशुद्ध कलात्मक यथार्थ-वादी रूप का महत्त्व स्वीकार किया है तो किसी ने उनके तथाकथित प्रचारात्मक आदर्शवाद की तीव्र आलोचना की है। पर प्रायः सभी श्रेष्ठ आलोचक इस बात पर एकमत रहे है कि मेरे उन उपन्यासो ने हिन्दी कथा-जगत् को एक 'नयी धारा' दी है। कुछ लोग इसे प्रशसा के रूप मे ले सकते है, पर मैं अनिवार्य रूप से ऐसा नही मानता। केवल एक 'नयी धारा' दे देना, या एक तथाकथित 'नया स्कूल' कायम कर देना ही कोई बडप्पन की बात नही हो सकती। बडप्पन तो तभी माना जा सकता है जब उस नयी धारा या नये स्कूल का उद्भावन समाज मे प्रचलित गतानुगतिक विचार-पद्धति मे तीव्र आघात करने और उसमे किसी हद तक परिवर्तन करने मे समर्थ हो।

मैं कह नही सकता कि मैने इस दृष्टि से थोडी भी सफलता पायी है या नही। हॉ, इतना मै अवश्य बता सकता हूँ कि अपने विभिन्न उपन्यासो को लिखने मे मैं किन उद्देश्यो से परिचालित और किन विचारो से प्रेरित हुआ हूँ।

पर सबसे पहले मै यह बता देना आवश्यक समझता हूँ कि मैं कभी जानकर अपनी किसी भी औपन्यासिक रचना मे किसी विशेष आदर्श के प्रचार की भावना से प्रेरित नही हुआ हूँ। मै यदि प्रेरित हुआ हूँ तो कोई एक कहानी कहने की लालसा से। अपनी कल्पना से कहानिया गढ़ने और फिर उन कहानियो को सुनाने का शौक मुझे बचपन से रहा है। वही प्रवृत्ति आज भी उसी रूप मे वर्तमान है। अतर जो कुछ हुआ है वह मेरे अनुभवो मे—मेरे उद्देश्य मे या मेरी शैली मे नही। इस-

लिये जहा कही भी मेरी रचनाओ मे आदर्शवाद आ घुसा हो वहां यह समझना चाहिये कि वह मेरे यथार्थवादी जीवन के निरतर प्रवहमान अनुभवो के पारस्परिक सघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न स्फुलिग-मात्र है।

वास्तविक जीवन के अनुभव ज्यो-ज्यो व्यापक, गहन और मार्मिक होते चले जाते हैं त्यो-त्यो उनकी कलात्मक व्यजना ऐसा रूप धारण करती चली जाती है जिसे आलोचकगण आदर्शवाद का नाम देते हैं। दूसरे शब्दो मे जीवन के व्यापक, गहन और मार्मिक अनुभवो की कलात्मक व्यजना ही सच्चा और स्वाभाविक आदर्शवाद है। जिस आदर्शवाद का प्रस्फुटन वास्तविक जीवन के अनुभवो की सघर्षशीलता का स्वाभाविक परिणाम नही है, और जो केवल पाखडपूर्ण पाडित्य से निकली हुई कल्पना का कोरा विलास है, उसका कोई भी महत्त्व स्वीकार करने को मैं तैयार नही हूँ। दुर्भाग्य से इस समय हिन्दी जगत् मे इसी पाखडपूर्ण पाडित्य की पूजा हो रही है और सहज जीवन की वास्तविक अनुभूतियो के स्वाभाविक विकास द्वारा प्रस्फुटित होनेवाली औपन्यासिक कला को लोग कम महत्त्व देना चाहते है।

कुछ भी हो, मै कह रहा था कि मेरी औपन्यासिक कला का मूल आधार है वास्तविक जीवन के निरतर प्रवहमान और साथ ही परस्पर सघर्ष-रत अनुभव। मेरे उपन्यासो मे उन्ही अनुभवो के प्रस्फुटन के अतिरिक्त और कुछ नही हैं। जीवन मे जो भी व्यापक, गहन और मार्मिक अनुभव मुझे होते चले गये है वे सब मेरे अतर्मन मे एकत्रित होते हुए एक दूसरे के सपर्क मे और सघर्ष मे आते गये है। मेरे अतर मे जो एक चक्कीनुमा रासायनिक यत्र है उसमे वे सब अनुभव घुटते और पिसते चले गये है और उस रासायनिक समिश्रण की क्रिया के फलस्वरूप नये-नये कथा-रूप और नये-नये कला-तत्त्व उत्पन्न होते चले गये हैं। उन्ही रासायनिक कथा-रूपो और कला-तत्त्वों के सयोजन ने ही मेरी औपन्यासिक रचनाओ का रूप धारण किया है।

मुझसे अक्सर इस प्रकार के प्रश्न पूछे जाते है—मैंने अपने अधिकाश उपन्यासो मे ऐसे नायको को क्यो लिया है जो जीवन के उच्च आदर्शो से गिरे हुए हैं, नैतिक दृष्टि से पतित हैं और असाधारण रूप से मनोविकार-ग्रस्त हैं?

ऐसी नायिकाओं को क्यों लिया है जिनका सामाजिक स्तर बहुत निम्न है ? किन उद्देश्यों और किन आदर्शों के प्रस्फुटन के लिये मैंने ऐसा किया है ?

ये प्रश्न प्रत्यक्ष में तो बहुत सीधे जान पडते हैं, पर ध्यानपूर्वक विचार करने पर इनके भीतर छिपी हुई जटिलता धीरे-धीरे सामने आने लगती है। मैं इन प्रश्नो की जटिलता को पूर्णतया सुलझा सकने की समर्थता अपने में नही पाता। फिर भी भरसक उन्हें सुलझाने का प्रयत्न करूँगा। पहले प्रश्न के उत्तर में मैं यह कहना चाहता हूँ कि मेरे नायक पतित, भ्रष्ट और मनोविकार-ग्रस्त अवश्य हैं, पर उनका पतन, भ्रष्टाचार और मनोविकार दूसरे यथार्थवादी उपन्यासकारो के नायको की अपेक्षा अधिक नही है। फिर भी यह सत्य है कि मेरे चरितनायक प्रत्यक्ष मे दूसरे उपन्यासकारो के चरितनायकों की अपेक्षा बहुत अधिक गिरे हुए लगते है। इसका कारण केवल यह है कि दूसरे उपन्यासकारा के और मेरे दृष्टिकोण में बहुत अतर है। दूसरे उपन्यासकार अपने चरितनायको के पतन मे भी उनकी महानता दिखाने के प्रयास में अपनी सारी कला खर्च कर देना चाहते हैं और उनकी विकारग्रस्त मानसिकता को उनके हृदय की विशालता और उनकी विकृत प्रेम-भावना को उनके कवि-कोमल हृदय के स्वर्गीय उच्छ्वास के रूप मे दिखाना चाहते हैं। पर मैंने अपने चरितनायको की मानसिकता को यथार्थ रूप मे प्रदर्शित करने के उद्देश्य से अतर्पारदर्शी एक्स-किरणों का प्रयोग आवश्यक समझा है और अत्यन्त तीक्ष्ण मनोवैज्ञानिक अस्त्रों द्वारा उसकी चीर-फाड करने की आवश्यकता महसूस की है। इसका फल यह हुआ है कि मेरे चरितनायको के मन के भीतर बहुत गहराई मे छिपी हुई समस्त विकृतिया स्पष्ट रूप से सामने आ गयी हैं और प्रत्यक्ष मे दिखायी देनेवाले उनके शिष्ट, सास्कृतिक, कविजनोचित 'महान् दुर्बलताओ' से पूर्ण रूप का पर्दा फाश हो गया है। यदि मैं तीखे मनोवैज्ञानिक अस्त्रो का प्रयोग न करता तो मेरे चरितनायक सभ्य, सुन्दर और सहज सहानुभूति के योग्य जान पडते। पर उनका ऐसा छद्म रूप समाज के आगे रखना मेरी यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को अभीष्ट न था—क्योकि ऐसा करने से मैं जानबूझ कर पाठको को धोखे में डालता।

उदाहरण के लिये, मेरे 'सन्यासी' के नायक नन्दकिशोर और शरत्चन्द्र के देवदास को लीजिये। इन दोनो की तुलना मे मेरी बात स्पष्ट हो जायगी। यदि ठढी बुद्धि से, यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखा जाय तो नन्दकिशोर देवदास की अपेक्षा अधिक चरित्रवान जान पडेगा। देवदास ने समाज के डर से पार्वती से विवाह करने से इनकार किया, जिसे कि वह चाहता था। और पार्वती को त्यागने के बाद वह शराब की बोतल में अपने को डुबाता रहा और वेश्याओ के बीच मे अपने मन को और तन को सडाता रहा। पर नन्दकिशोर समाज की परवाह न कर उपन्यास की नायिका शाति से कुछ ऊपरी कारणो से बीच-बीच में झगडते रहने पर भी बराबर उसका साथ देता रहा, और कभी उसने जानकर उसे त्यागने का विचार नही किया। यदि एक आकस्मिक कारण (जिसमें उसका हाथ नही था) न आ गया होता, और शाति उस कारण से तग आकर स्वय न भाग गयी होती, तो वह सभवतः अंत तक उसका साथ देता। यह होते हुए भी देवदास के प्रति अधिकाश पाठको की सहानुभूति उमड उठती है, यहा तक कि उपन्यास-प्रेमी पाठक तो उसके पतित चरित्र को भी महान् और उन्नत समझ कर उसके प्रति श्रद्धापरायण हो उठते हैं। इसके विपरीत नन्दकिशोर के प्रति पाठको के क्रोध और घृणा की सीमा नही रहती है—ऐसा मुझमे 'सन्यासी' के बहुत से पाठको ने कहा है। इसका कारण वही है जो मैं पहले कह चुका हूँ। 'देवदास' के लेखक ने देवदास की दुर्बलताओ पर ऐसी रगीनी चढायी है, उसके पतन को ऐसा मोहक रूप दिया है, उसकी मनोविकृति के प्रति ऐसी सहानुभूति प्रदर्शित की है कि उसकी सारी कमजोरिया एक अपूर्व महिमा से मडित मालूम पडने लगती हैं और वह एक महान् प्रेमिक के रूप में हमारे सामने आता है, जिसके जीवन की सम्पूर्ण असफलता के लिये समाज उत्तरदायी ठहराया गया है। पर मैंने नन्दकिशोर की मानसिकता के विश्लेषण में भावुकता का तनिक भी सहारा न लेकर उसे पाठको के आगे यथार्थ रूप मे रख देने का प्रयत्न किया है। क्योकि मेरी राय मे भावुकता के रग मे रगे हुए काल्पनिक चित्र की अपेक्षा यथार्थ रेखाओं द्वारा अङ्कित गहन मनोवैज्ञानिक चित्र अधिक महत्त्वपूर्ण और जीवन की वास्तविकता को समझाने मे अधिक सहायक सिद्ध होते हैं।

उसी प्रकार मेरे दूसरे उपन्यास 'पर्दे की रानी' का चरितनायक इद्रमोहन जैनेन्द्र जी की सुनीता के नायक हरिमोहन से प्रत्यक्ष में अधिक पतित मालूम पड़ने पर भी वास्तव मे ऐसा नही है, बल्कि कुछ बातो मे उससे उन्नत ही है। इद्रमोहन निरजना के पीछे इस हद तक पागल है कि उसके एक इशारे पर वह अपने प्राण दे देता है। यह ठीक है कि उसके भीतर बहुत-सी विकृतिया वर्तमान हैं और वह अपनी बहुत-सी विकट प्रवृत्तियो को कार्यरूप में परिणत करने से नही हिचकता। किसलिये? केवल इसलिये कि उसका प्रति रक्तकण प्रतिपल केवल एक ही लगन के पीछे उन्मुख रहता है। और वह लगन है निरजना के सम्पूर्ण शरीर को, समग्र मन को और समस्त आत्मा को परिपूर्ण रूप से प्राप्त करना और उसमे अपने-आपको निमज्जित कर देना—किन्ही भी दामो पर—चाहे उसके लिये शैतान के हाथो स्वय अपनी आत्मा को भी क्यो न बेचना पड़े।

इसके विपरीत हरिमोहन सुनीता को चाहते हुए भी शकालु रहता है—अपनी सच्चरित्रता के कारण नही, बल्कि अपनी अहगत सकीर्णता और हीनता के कारण। सुनीता के प्रेम मे वह पागल नही है, बल्कि उसके प्रति एक अत्यन्त हीन कोटि की गुप्त और चपल आकाक्षा से वह भीतर-ही-भीतर क्षुब्ध होता रहता है। सुनीता अपनी अन्तःप्रज्ञा से यह बात जान जाती है कि वह केवल एक तीव्र कुतूहली आकाक्षा से प्रेरित होकर उसकी ओर आकर्षित हुआ है। इसलिये वह एक दिन अपना नग्न शारीरिक रूप उसके आगे उद्घाटित कर देती है। वास्तव मे हरिमोहन सुनीता की आत्मा को चीर कर देखने के लिये कभी उत्सुक नहीं रहा, बल्कि उसके शरीरत्व की रहस्यमयता के उद्घाटन के लिये ही कुतूहली था।

यह सब होते हुए भी इस हीन, कुटिल और सकीर्ण मनोविकार से ग्रस्त चरितनायक के प्रति लेखक की पूरी सहानुभूति रही है और उसने उसे एक रहस्यमय महान् आत्मा के रूप में चित्रित करके पाठको की भी सहानुभूति उसके प्रति जगायी है। इस कारण घोर पतन के बावजूद हरिमोहन उन्नत चरित्र सिद्ध हो जाता है। इसके विपरीत इद्रमोहन स्पष्टतया एक पतित हत्यारे का हत्यारा ही रह जाता है। इसका कारण यह है कि मैंने उसके अवचेतन

मन का यथासंभव पूर्ण विश्लेषण करके यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि अपने ऊपरी मन की सारी परिमार्जित रोमांटिक रंगीनी के बावजूद वह भीतर से घोर आत्मलीन प्रेमिक, अहवादी मनुष्य और बर्बर पशु है।

शेखर और 'प्रेत और छाया' के नायक की भी पारस्परिक तुलना की जा सकती है। यदि शेखर का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उसी दृष्टिकोण से किया जाय जिस दृष्टिकोण से 'प्रेत और छाया' के चरितनायक का किया गया है तो दोनो चारित्रिक विकृति और नैतिक पतन में एक दूसरे से होड लेते हुए मालूम पड़ेंगे। पर दोनो के चरित्राकन मे दृष्टिकोणो का अतर होने से शेखर अपनी घोर सकीर्ण अहवादिता और हीन विकृतियो के बावजूद लेखक की पूरी सहानुभूति पाने के कारण एक सत्ययुक्त, सुसंस्कृत, परिमार्जित-रुचि, उच्च जीवन-दर्शन से समन्वित नायक के रूप मे हमारे सामने आता है, और इसके विपरीत 'प्रेत और छाया' के चरितनायक का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मैंने ऐसे यथार्थवादी दृष्टिकोण से, निर्भय रूप से तीक्ष्ण अस्त्रो द्वारा करने का प्रयत्न किया है, जिसके फलस्वरूप उसका पतित रूप सुस्पष्टतया, बिना किन्हीं मोहक रंगो के, पाठको के आगे आ जाय।

ऊपर मैंने विभिन्न उपन्यासकारो की जिन-जिन रचनाओ का उल्लेख किया है उनके कलात्मक महत्त्व के सम्बन्ध में मैंने कुछ नही कहना चाहा है। मेरी रचनाए कला की दृष्टि से उनमे से किसी से हीन हो सकती हैं, और किसी से उन्नत। पर यह प्रश्न ही मैंने नहीं उठाया है। मैंने केवल दृष्टिकोणो का अतर दिखाना चाहा है। मेरी यह धारणा है कि श्रेष्ठ कलाकार का उद्देश्य यह कदापि नही होना चाहिये कि चरितनायक की दुर्बलताओ को भी महिमान्वित किया जाय, अथवा भयकर रूप से समाजघाती, मानसिक विकृतियो के बावजूद उसके व्यक्तित्व को मोहक और आकर्षक बना कर उसे महान् सिद्ध किया जाय। बल्कि उसके व्यक्तित्व की भ्रामक मोहकता को पृष्ठभूमि में डालकर उसकी विकृतियो के यथार्थ रूप को अत्यन्त गहराई से खोद कर जड से उखाड़ कर रख दिया जाय, जिससे उसके बाहर के सभ्य और सास्कृतिक रूप का मुलम्मा साफ होकर उसके भीतर का सच्चा स्वरूप सामने आ जाय। इस उपाय से व्यक्ति, समाज और जीवन की वास्तविकता का जो प्रस्फुटन होगा

वह समाज के स्वस्थ निर्माण मे सहायक सिद्ध होगा। यही सत्य मैंने अपने रचनात्मक जीवन मे पाया है, और यदि नवयुग के लिये मेरा कोइ सदेश हो सकता है तो वह यही है।

आलोचकों ने मेरे उपन्यासो के दुर्बल और पतित नायकों की निंदा करते हुए, इसे मेरी कला की कमी बतायी है और यह मत प्रकट किया है कि युग को चट्टान की तरह दृढचरित्र, धीरोदात्त नायकों की आवश्यता है। इस आक्षेप के उत्तर मे मुझे केवल यह कहना है कि यथार्थ जीवन मे दुष्प्राप्य, कोरी कल्पना द्वारा गढे गये निर्जीव चट्टानी पुतलो को उपन्यासो के नायकों के रूप मे खडा करने से कोरी सुधारवादी बूर्जवा मनोवृत्ति की तुष्टि भले हो जाय, उससे वास्तविक जीवन की जटिल और ज्वलत समस्याओं के समाधान मे तनिक भी सहायता नही मिल सकती।

राजनीतिक शक्तिमत्त अथवा शक्ति-प्रसार के मद से अध, हिसा-प्रतिहिसा के रोग से ग्रस्त, युद्ध-ध्वस्त, जीवन-सघर्ष मे पिसा हुआ, अन्नाभाव से जर्जर, भूत से विताडित, वर्तमान मे दलित और भविष्य की अनिश्चित आशकाओं से शकित आज का सपूर्ण मानव-जगत् ही मनोविकार-ग्रस्त हो उठा है। इसलिये कोई भी ईमानदार, यथार्थवादी उपन्यासकार वास्तविक जीवन मे से किसी ऐसे नायक को खोज नही पाता जो मनोविकार-ग्रस्त न हो और जो लोहे के समान सुदृढ-चरित्र, नैतिक दृष्टि से अत्यन्त उन्नत और जीवन के उच्च आदर्श के मान को अपनाये हुए हो। अंतर केवल यह हो सकता है कि कोइ व्यक्ति कुछ अधिक अशो मे मनोविकार-ग्रस्त है तो कोई कम अंशो मे। इसलिये यदि समाज मे छाये हुए मनोविकारो का सच्चा रूप सामने रखकर मनोविश्लेपण द्वारा उसके निराकरण के उपाय की ओर ही निर्देश करना है तो सबसे अच्छा तरीका यही है कि ऐसा चरितनायक खोजा जाय जिसकी मनोवृत्तिया औरो की अपेक्षा कुछ अधिक तीव्र हो। और मैंने यही किया है।

अपने नारी-चरित्रो के सम्बन्ध में भी मै दो बातें कह देना चाहता हूँ। हमारे सुधारवादी और विशुद्ध रोमासवादी दोनो प्रकार के उपन्यासकारो ने नारी के सबध मे जिस दृष्टिकोण को अपनाया है उसमे हमारे यहा के परंप-

रागत बूर्जवा दृष्टिकोण से मूलतः कोई अतर नही आने पाया है। इस सबंध में सबसे पहले शरत् के दृष्टिकोण पर विचार किया जाय तो मेरी बात कुछ स्पष्ट हो जायगी। शरत् के सम्बन्ध मे किसी जमाने मे बगाली आलोचको ने यह भ्रामक बात प्रचारित्त की थी कि उन्होंने परपरा से पीडित और दलित नारी को समाज के बहुत ऊपर प्रतिष्ठित कर दिया है और शरत् की नारिया युग की सकीर्ण भावना के प्रति विद्रोहिणी रही है। पर आज जब हम शरत् के सपूर्ण साहित्य का विवेचन और विश्लेपण प्रगतिशील मनोवैज्ञानिक यथार्थ-वाद के आधार पर करते हैं तब यह बात स्पष्ट सामने आती है कि शरत् ने अपने अधिकाश उपन्यासो मे अपने स्त्री-पात्रो को परपरा-प्रचलित आदर्श के आगे तनिक भी नही बढाया। श्रीकात की अन्नदा दीदी के सतीत्व की महिमा घोषित करते हुए शरत् ने भारतीय नारी की चरम विवशता का गौरवगान गाया है। एक निकम्मे, चरित्रहीन, गजेडिये, भगेडिये और घोर अत्याचारी पति का साथ अन्नदा दीदी अन्त तक केवल इस पौराणिक आदर्श के आधार पर देती रही कि हर हालत मे पातिव्रत धर्म को निभाना ही नारी का सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रथम और सबसे अतिम गुण है। जिस प्रकार पौराणिक सती नारी अपने गलिताग पति की घृणित इच्छा की पूर्ति के लिये उसे कंधे पर रखकर वेश्या के यहा तक उसे पहुँचा आती है, अन्नदा दीदी भी उसी नारी के आदर्श की परम्परा को आगे बढाती है। देवदास की पार्वती युगादर्श से विद्रोह न कर सकने के कारण निर्जीव वृद्ध पति के साथ शातिपूर्वक विवाहित जीवन बिता कर संतोष कर लेती है। 'चरित्रहीन' की सावित्री चरित्रहीन नायक को सब-कुछ समर्पित करने पर भी उसके साथ पति-पत्नी का सम्बन्ध केवल इसलिये स्थापित नहीं कर पायी कि वह विधवा है। किरणमयी का भी यही हाल रहा। 'चरित्रहीन' की सरोजिनी यह जानने पर भी कि जिस व्यक्ति को वह चाहती है वह किसी दूसरी स्त्री से प्रेम करता है, उससे वैवाहिक संबध में बधने के लिये अपने आत्मसम्मान तक को तिलाजलि दे देती है।

हिंदी के सुधारवादी उपन्यासकारो ने भी शरत् की ही तरह अधिक से अधिक नारी के त्याग और तपस्या पर जोर दिया है। अर्थात् उन्होने यह सुझाया है कि नारी का चरम कर्तव्य त्याग और तपस्या को अपनाते हुए

पुरुष-परिचालित समाज के सारे अत्याचारो को बिना किसी शिकायत के शातिपूर्वक सहन करते चले जाना है। उसी मे उसका कल्याण है। और हमारे विशुद्ध रोमासवादी उपन्यासकारो ने भी पुरुष-नायक की समस्त उछृङ्खल प्रवृत्तियों के बावजूद उसे आत्म-समर्पित करने मे ही नारीत्व की महत्ता मानी है।

मैं अपने उपन्यासो मे नारी के सम्बन्ध मे इस दृष्टिकोण को कभी अपना नही पाया। मैने ऐसे नारी-पात्रो को लिया है जिन्हे जीवन की घनघोर संघर्षमयी परिस्थितियों से होकर गुजरना पडा है और जिनकी अवचेतना में निहित विद्रोह के बीजरूपी अणुओं मे उन सकटाकुल परिस्थितियो के पारस्परिक सघर्ष के कारण रासायनिक प्रतिक्रिया स्वरूप भयकर विस्फोट मे परिणत होने की संभावना रही है। मेरे नारी-पात्रो मे त्याग और तपस्या की तनिक भी कमी न होने पर भी उन्होने कभी आत्मकामी, अहवादी और अन्य चान-परस्थसा पुरुष-पात्रो के साथ समझौता नही किया है। मैंने जानबूझ कर यथार्थ जीवन से ऐसी नारियों को चुना है जिनमे इस प्रकार के विद्रोहात्मक विस्फोट के बीज-तत्त्व निहित हो और जिनमे उस विस्फोट के परिणाम को अकेले अपने ही बूते पर पूर्णतया स्वीकार कर सकने की सभावना हो।

अब समय आ गया है कि आप युगो के अधकार मे बद्ध, सदियो के क्रूर निर्यातन से पीडित नारी-आत्मा के अतस्तल मे निहित विद्रोह की आवाज को किसी भी छल-छद्म से दबाने में समर्थ नही हो पायेंगे। उनकी अन्तरात्मा की वह फुफकारती हुई पुकार समाज की प्रत्येक अध कदरा मे गूंजती हुई प्रचड विस्फोटो के साथ बाहर के जगत में फूटने के सुस्पष्ट लक्षण प्रकट कर रही है। साथ ही अपने चारो ओर की काली-काली दीवारो को तोडने और फोडने मे भी उसका अतर्विद्रोह निकट भविष्य में सफल होकर ही रहेगा। पिछले कलाकारो की तरह दलित नारी के प्रति केवल सहानुभूति दिखाने से ही अब काम नहीं चलेगा। वह समय आ रह है जब कलाकारो की श्रेष्ठता की परख एकमात्र इस बात से होगी कि नारी-आत्मा के अतर मे बीज-रूप मे छिपी हुई विद्रोह की चिनगारी

को कौन कितनी अधिक तीव्रता से, प्रचड अग्नि के रूप मे प्रज्वलित करने मे समर्थ होता है । केवल उसकी सामाजिक पीडा के प्रति काव्यात्मक करुणा जगाने वाले बुद्धिविलासी लेखकों की थोथी समवेदना की कोई आवश्यकता इस युग मे नही है । नये युग की सच्चे अर्थों मे प्रगतिशील नारी इस प्रकार की समवेदना और सहानुभूति को अपने लिये अपमानकर समझेगी । इस युग मे तो नारी को कठोरतम परिस्थितियों के बीच मे केवल अपने अतर्विद्रोह के बल पर खडा होने के लिये उकसाने वाले यथार्थवादी आदर्शवादियो की प्रेरणा आवश्यक है । मैंने अपनी सीमित शक्ति से इसी ओर प्रयास किया है । इस कारण नारी के सम्बन्ध मे मेरा दृष्टिकोण अपने यहा के सभी उपन्यासकारो से भिन्न है । मै मानता हूँ कि इस महाविद्रोह का डका बजाने के लिये मेरी अपेक्षा बहुत बडी शक्ति की आवश्यकता है, फिर भी स्वल्पमप्यास्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्, इस धर्म का स्वल्प भी महान् फलप्रद है ।